

खण्ड एक

संवैधानिक दायरे



1. लोकसेवा आयोग - एक समीक्षा ।
2. कुलपति पद का अवमूल्यन ।
3. केन्द्र सरकार एवं राज्यपाल के संवैधानिक दायरे ।
4. महिला आरक्षण, अनछूए पहलू ।



लोकसेवा आयोग एक समीक्षा

कुछ समय पूर्व से विधायी संस्थाओं की कार्यप्रणाली व प्रामाणिकता आदि को लेकर काफी विवादास्पद तथ्य प्रकाश में आए हैं- इनमें संघ व राज्य लोक सेवा आयोग भी हैं। यद्यपि लोक सेवा आयोग अत्यंत महत्वपूर्ण संस्था होती है, किंतु वह पर्याप्त जन-ध्यानाकर्षण का केन्द्र नहीं बन पाई है। हाल ही की कुछ घटनाओं से यह तथ्य सामने आया है कि इन आयोगों के संदर्भ में सब कुछ ठीक-ठाक नहीं चल रहा है और जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान इन संस्थाओं में भी नैतिक मानदंडों का क्षरण हुआ है। उदाहरणस्वरूप संघ लोक सेवा आयोग की 1990 की नागरिक सेवा की पूर्व परीक्षा बिना विवादास्पद बने पूर्ण नहीं हो पाई थी। 1991 की नागरिक सेवा परीक्षा के प्रश्नपत्रों का आउट हो जाना जनमानस के लिए एक धक्का था। समाचार पत्रों के अनुसार प्रश्नपत्रों के आउट होने की जाँच सी.बी.आई. ने की ओर मामला अब न्यायालय में है। मामला न्यायालय में विचाराधीन होने से इस विषय में कोई टिप्पणी करना उचित नहीं होगा। समय-समय पर विभिन्न राज्य लोक सेवा आयोगों से संबंधित ऐसे कई प्रकरण समाचार पत्रों के माध्यम से प्रकाश में आते रहे हैं। ऐसे रहस्योद्घाटनों से इस प्रकार की महती संस्थाओं के सदाचरण व सत्यनिष्ठा तथा प्रामाणिकता को लेकर जनमानस में संदेह का वातावरण निर्मित हो गया है। अतः इनकी कार्यप्रणाली व अन्य विषयक पुनर्आकलन की आवश्यकता अत्यंत तीव्रता से महसूस की जा रही है।

अंग्रेजी शासन काल में भारत में एक स्वस्थ रोजगार नीति की आवश्यकता को महसूस किया गया था कि लोक सेवा संबंधी नियुक्तियां एक विशिष्ट संवैधानिक संस्था द्वारा की जानी चाहिए। भारत शासन के 1919 के कानून के अनुसार पहली बार लोक सेवा आयोग बनाया गया। भारत में उच्च सेवाओं के लिए नियुक्त 'ली कमीशन' ने 1923 में लिखा- "अब तक के अनुभवों के आधार पर यह तथ्य प्रमाणित है कि लोकतांत्रिक संस्थाओं को राजनीतिक एवं व्यक्तिगत प्रभाव से, जहां तक हो सके, बचाना चाहिए ताकि वे स्थिरता एवं सुरक्षापूर्वक तथा निष्पक्षतापूर्वक अपने कार्य को अंजाम दे सकें। जहां - जहां इस तथ्य को अनदेखा किया गया और भ्रष्ट तंत्र प्रभावी रहा वहां-वहां अक्षम एवं असंगठित किस्म की नागरिक सेवा ही इस अनदेखी के दुष्परिणामस्वरूप सामने आई।" 1928 की सर्वदलीय, नेहरू रिपोर्ट और सुप्रसिद्ध विधि विशेषज्ञ सर हरिसिंह गौर द्वारा सायमन कमीशन को प्रस्तुत प्रतिवेदन में लोक सेवा आयोग की स्थिरता पर जोर दिया गया। प्रत्येक लोकतांत्रिक राष्ट्र ने नागरिक सेवाओं में नियुक्तियों के कार्य को लोक सेवा आयोग द्वारा सम्पादित करवाने में ही विश्वास किया है चाहे वह अमेरिका हो चाहे इंग्लैंड और इसीलिए भारत में संघ आयोग की स्थापना 1926 में हुई और भारत शासन के 1935

के कानून ने राज्य आयोगों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया और 1950 में भारतीय गणतंत्र के प्रारंभ (1950) में संघ आयोग को संघ लोक सेवा आयोग नाम देकर पूर्व में निर्मित सात प्रदेशों के राज्य आयोगों को राज्य लोक सेवा आयोग नाम दिया गया। तत्पश्चात् 1956 में भारत के प्रत्येक राज्य में राज्य लोक सेवा आयोगों की स्थापना की गई।

संविधान में लोक सेवा आयोगों के कार्य एवं दायित्व को भलीभांति वर्णित किया गया है। धारा 320 कहती है “केन्द्रीय एवं राज्यीय सेवाओं में नियुक्तियों का दायित्व क्रमशः संघ लोक सेवा आयोग एवं राज्य लोक सेवा आयोग का होकर उन्हें तत्संबंधी नियुक्तियों हेतु परीक्षाओं को संचालित करना होगा।” संघ अथवा लोक सेवा आयोग को निम्न विषयों में मार्गदर्शन देना होगा :-

(1) नागरिक सेवाओं एवं नागरिक पदों संबंधी सभी नियुक्तियों के संदर्भ में सभी विषयों में।

(2) नागरिक सेवाओं एवं तत्संबंधी सभी पदों तथा उन पर प्रोन्नति संबंधित सभी विषयों व आधारभूत सिद्धान्तों के संबंध में।

(3) भारत शासन अथवा राज्य शासन से संबंधित अनुशासनात्मक सभी मामलों में। संविधान इस संबंध में अंतिम रूप से कहता है, “भारत के राष्ट्रपति अथवा किसी राज्य के राज्यपाल द्वारा किसी भी विषय में राय मांगे जाने पर उन्हें यथोचित उत्तर देना लोक सेवा आयोग का दायित्व होगा।”

इस प्रकार संविधान के अनुसार लोक सेवा आयोग का तीन अन्य संस्थाओं के समान संवैधानिक अस्तित्व है। वे अन्य तीन संस्थाएं हैं - सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय, चुनाव आयोग तथा महा लेखा नियंत्रक। इससे लोक सेवा आयोग की समग्रता एवं स्वतंत्रता प्रतिपादित होती है।

लोक सेवा आयोग संबंधी विभिन्न आयाम संविधान की धारा 315, 316, 317, 319 एवं 320 में वर्णित हैं। धारा 315 भारत के राष्ट्रपति को लोक सेवा आयोग की न केवल स्थापना का अधिकार देती है, बल्कि दो या अधिक राज्यों हेतु संयुक्त लोक सेवा आयोग के गठन का अधिकार भी देती है बशर्ते संबंधित राज्यों की विधायिकाएं तत्संबंधी प्रस्ताव पारित करें तथा संसद तत्संबंधी कानून बनाए। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि किसी राज्यपाल के आग्रह पर उस राज्य संबंधी मामलों का दायित्व भी संघ लोक सेवा आयोग को सौंप दें।

धारा 316 राष्ट्रपति एवं राज्यपाल को क्रमशः संघ लोक सेवा आयोग एवं राज्य लोक

सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार देती है, किंतु तत्संबंधी प्रक्रिया का वर्णन स्पष्ट न होने से मनमानी एवं विरोधाभास की संभावना निहित है। जबकि सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय में न्यायाधिशों की नियुक्ति संबंधित अधिकार का स्पष्ट उल्लेख संविधान की धारा 127 एवं 217 में होने से मनमानी नहीं हो सकती है। इस धारा में आगे वर्णित है कि उपरोक्त आयोगों के आधे सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें केन्द्रीय अथवा राज्य सेवा के किसी कार्यालय में कम से कम 10 वर्ष कार्य करने का अनुभव हो (कार्यालय के स्तर का कोई विशिष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं है।) धारा में आगे कहा गया है कि आयोग का सदस्य बनने पर उसका कार्यकाल छह वर्ष का होगा, किंतु यदि इससे पूर्व वह 65 वर्ष का हो जाता है तो उसका कार्यकाल स्वतः समाप्त हो जाएगा- यह नियम संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों के लिए है राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों के लिये कार्यकाल 6 वर्ष एवं अधिकतम आयु 62 वर्ष है, किंतु नागरिकों में से चुने जाने वाले 50% अन्य सदस्यों के विषय में कोई विवरण न देकर धारा मौन ही रहती है।

धारा 317(2) जो कि सदस्यों को सदस्यता से हटाए जाने के विरुद्ध उन्हें सुरक्षा प्रदान करने हेतु बनाई गई है, कहती है, “आयोग के अध्यक्ष अथवा सदस्य को राष्ट्रपति, उसके अशिष्ट आचरण, उसके दिवालियापन, उसके सदस्य रहते हुए अन्य कहीं सवैतनिक सेवारत होने अथवा आयु या दिमागी तौर पर अक्षम होने पर उसे पदमुक्त करने हेतु सक्षम है किंतु एक तयशुदा प्रक्रिया के अन्तर्गत ही।

धारा 319 सभी सदस्यों को समान महत्व प्रदान करती है जो कि कहती है कि कोई भी सदस्य उसी या अन्य किसी राज्य के आयोग का अध्यक्ष भी बनाया जा सकता है।

उपरोक्त सभी प्रावधान संविधान-निर्माण की प्रक्रिया में अत्यंत अध्ययन, बहस, दूरदर्शिता व गंभीरतापूर्वक बनाए गए हैं, किन्तु जन साधारण की बढ़ती आवश्यकताओं, प्रतिभा की उपलब्धता, तदनुसार बदलते दृष्टिकोणों, गिरते नैतिक मानदंडों, बदलती राजनीतिक स्थितियाँ आदि के मद्देनजर लोक सेवा आयोगों एवं इसी प्रकार की अन्य संवैधानिक संस्थाओं की कार्यप्रणालियों पर बहस का समय आ गया है ताकि इतनी महत्वपूर्ण संस्थाओं के अब तक अचर्चित आयामों पर संपूर्ण विचार कर उन्हें हर प्रकार के बाह्य प्रलोभनों से बचाया जा सके।

उपसंहार में मैं निम्नलिखित मुद्दों पर ध्यानाकर्षण चाहूंगा :-

I नियुक्ति का तरीका :- कुछ सुझाव देने से पूर्व मध्यप्रदेश प्रशासनिक सुधार आयोग (1972) की रिपोर्ट के प्रभाग VI के अनुक्रमांक 67 एवं 68 को उद्धृत करना उचित रहेगा, “आयोग की सदस्यता किसी विशिष्ट सेवा से संबंधितों का एकाधिकार नहीं होना चाहिए।”

इसमें आगे कहा गया है, “संविधान में अन्य 50% सदस्यों की योग्यता व अर्हता के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हर किसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है (यद्यपि रिपोर्ट अभी तक प्रकाश में नहीं आई है ।)

आयोगों में योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति का लक्ष्य प्राप्त करने हेतु कई विकल्प हैं :-

- (1) अखिल भारतीय स्तर पर विख्यात लोगों का पैनल तैयार किया जाए और उसमें से लोगों को आयोग का सदस्य नियुक्त किया जाए । पैनल तैयार करने का दायित्व ठोस नैतिक, बौद्धिक एवं स्वतंत्र आधार वाले उच्च स्तरीय प्रख्यात व्यक्तियों को सौंपा जाए।
- (2) सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालयों एवं राष्ट्र के विश्वविद्यालयों में नियुक्तियों हेतु जो प्रक्रिया व मानदंड अपनाए जाते हैं, वैसे ही संघ व राज्य लोक सेवा आयोगों में नियुक्तियों हेतु भी अपनाए जाएं और ऐसी स्थिति में संबद्ध संस्था के अध्यक्ष से विचार-विमर्श अनिवार्य किया जाय । यह केवल संस्थागत/शासकीय सदस्यों के प्रकरण में ही लागू होगा । जबकि असंस्थागत सदस्यों की नियुक्ति में प्रतिपक्ष के नेता की राय ली जानी चाहिए। सदस्यों तथा अध्यक्ष की नियुक्ति के अधिकार राष्ट्रपति के पास होना चाहिये जैसाकि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति में होता है ।
- (3) संयुक्त राज्य अमेरिका में उच्च पदों पर नियुक्ति हेतु नामांकित सदस्यों का परीक्षण विधायिका के सदस्यों की एक समिति द्वारा पहले किया जाता है और उस परीक्षण में सफल होने पर ही नामांकित सदस्य की सदस्यता प्रभावी होती है । हमारे यहां भी लोक सेवा आयोग एवं संवैधानिक संस्थाओं में नियुक्ति हेतु इसी के समानांतर प्रणाली अपनाई जानी चाहिए ताकि ऐसी सभी नियुक्तियों में पारदर्शिता बनी रहे ।
- (4) हमारी वर्तमान व्यवस्था में राज्य के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति किसी अन्य राज्य के न्यायाधीशों में से की जाती है । राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों की नियुक्ति हेतु उसी प्रकार की व्यवस्था बनाना आवश्यक है ।
- (5) परिपक्व प्रतिभाओं की सुनिश्चितता हेतु एवं दीर्घतम अनुभव की उपलब्धता हेतु आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्य की अर्हता हेतु न्यूनतम आयु 55 वर्ष रखी जानी चाहिए ।

II सेवा शर्तें :- इस विषय में भी विचार की आवश्यकता है । सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय को एक ओर एवं संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य लोक सेवा आयोग को दूसरी ओर रखकर देखने पर इन संवैधानिक संस्थाओं में कई समानताएं नजर आती हैं अतः

सेवा शर्तों यथा सेवानिवृत्ति की आयु, वेतन एवं भत्ते, कार्यकाल एवं अन्य सुविधाओं पर भी ध्यान देना होगा ताकि उनका सुचारु संचालन संभव हो ।

III आयोगों की आंतरिक कार्यप्रणाली विषयक टिप्पणी आवश्यक नहीं है, किन्तु परीक्षाओं के संचालन एवं परिमाणन, अच्छे पुस्तकालय की उपलब्धता व अनुसंधान एवं विकास विभाग की स्थापना, सदस्यों की अंतरवयस्कता, कर्मचारियों व सदस्यों का भविष्य आदि ऐसे मुद्दे हैं जिन पर विचार व निर्णय आवश्यक हैं जो कि वर्ष में कम से कम 2 बार होने वाली बैठकों में लिए जाने चाहिए । यहां यह सुझाव भी उपयुक्त होगा कि इस प्रकार के निर्णयों में संघ लोक सेवा आयोग (जो कि एक स्वतंत्र संवैधानिक संस्था होकर राज्य लोक सेवा आयोग के समकक्ष ही है, उससे ऊंची नहीं) तथा राज्य लोक सेवा आयोग के बीच परस्पर संवाद होना चाहिए जो कि संप्रति नहीं है ।

IV आयोगों के वार्षिक प्रतिवेदन संसद एवं विधानसभाओं में प्रस्तुत किए जाते हैं, किन्तु शायद ही उन पर कभी बहस होती हो । यह संदेहातीत है कि यदि हमारे चुने गए जनप्रतिनिधि (सांसद, विधायक) आयोगों के इन वार्षिक प्रतिवेदनों पर सार्थक बहस करें तो आयोगों का नैतिक मनोबल मजबूत होकर उनकी कार्य प्रणाली में सुधार आएगा ।

लेखक ने अपने उपरोक्त विचार जनसामान्य के मनन हेतु ऐसे समय पर रखे हैं जब उसने आयोग की सदस्यता में रहते हुए सभी कुछ स्वयं देखा, सुना व महसूस किया । उपरोक्त आलेख का उद्देश्य प्रबुद्ध जनों का ध्यानाकर्षित कर उनमें उपरोक्त संवैधानिक संस्था की कार्यप्रणाली आदि के संबंध में बहस व सुझाव आदि संबंधी पहल करना है ताकि वे अपने विचार व सुझाव दे और वैचारिक समुद्र मंथन की इस प्रक्रिया में संघ लोक सेवा आयोग व अन्य समकक्ष संवैधानिक संस्थाओं का वह स्वर्णिम गौरवमयी अतीत कदाचित पुनः उभरकर धरातल पर आ सके जब पूर्व प्रथम प्रधानमंत्री स्व. पंडित जवाहरलाल नेहरू भी सलाह मशविरे हेतु संघ लोक सेवा आयोग के तत्कालिन अध्यक्ष से समय पूर्व निर्धारित (एप्वाइंटमेंट) कर उनसे मिलते थे ।

कुलपति पद का अवमूल्यन

सत्ता, पैसे की भूख तथा अकर्मण्यता के कारण सभी शिक्षा संस्थाओं विशेषकर विश्वविद्यालयों का कामकाज अस्त-व्यस्त होता जा रहा है। विश्वविद्यालयों में तो यह स्थिति चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी है। विश्वविद्यालयों की तथाकथित स्वायत्तता ने इस स्थिति को और अधिक जटिल ही बनाया है। आमतौर पर इस परिस्थिति के लिए राजनैतिक हस्तक्षेप को जिम्मेदार ठहराकर सब अपनी जिम्मेदारी से बचना चाहते हैं लेकिन यह सब कैसे और क्यों हो रहा है यह बहस तथा विचार का विषय है। विश्वविद्यालयों की कार्यप्रणाली को प्रभावशाली बनाने तथा कुलपतियों की नियुक्ति की प्रक्रिया पर विचार करने के लिए समय-समय पर समितियाँ बनीं। इन समितियों ने ढेरों रिपोर्ट प्रस्तुत की परन्तु सब की सब आज तक ठंडे बस्ते में हैं। बड़े दुःख की बात है कि बिहार में 1972 से लेकर अब तक पाँच बार सामूहिक रूप से कुलपति बदले जा चुके हैं। मध्यप्रदेश के सागर स्थित डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय तो कुलपति परिवर्तन की एक अनोखी मिसाल है। दस वर्षों में इस विश्वविद्यालय ने आठ कुलपति देख लिए।

सरकारें बदलते ही कुलपति बदलने का जो विवाद हम वर्तमान में देख रहे हैं यह कोई नया नहीं है। तमिलनाडु में यह बहुत पहले से चलता आ रहा है। पंजाब में भी ऐसा हुआ है। कांग्रेस सरकार गई और जनता सरकार आई तो उसने कुलपति बदल दिये। मध्यप्रदेश में राष्ट्रपति शासन के समय कुछ कुलपतियों में परिवर्तन विवादास्पद ही रहे। उसी समय राजस्थान में तो गरिमा की न्यूनतम सीमा भी लांघी गई तथा कुलपति को हटाने और नये कुलपति को पद की कुर्सी पर बिठाने का कार्य अशोभनीय रूप से स्थानीय प्रशासन से सम्पन्न कराया गया। प्राथमिकता के आधार पर ऐसे परिवर्तनों को जरूरी बताया जाता है परन्तु इनके पीछे मंशा की पवित्रता के प्रति संशय भी पैदा होता है।

कुलपति के पद की गरिमा और स्थिरता को भी इससे आघात लगता है। विश्वविद्यालयों में इस तरह की राजनीति के प्रवेश तथा शिक्षक राजनीतिज्ञों के बाहुल्य ने विश्वविद्यालयों की व्यवस्था को लगभग चरमरा दिया है। इस प्रकार की तथा अन्य समस्याओं के अध्ययन के लिए समय-समय पर समितियाँ और आयोग बने। राधाकृष्णन आयोग, कोठारी आयोग, विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय के प्रशासन पर यूजीसी कमेटी, यूजीसी माडल एक्ट कमेटी, नवशिक्षा प्रबंध पर यूजीसी कमेटी आदि उल्लेखनीय हैं। कुलपतियों के कार्य और भूमिकाओं के बारे में इनकी लगभग एकमत राय के बावजूद इन रिपोर्टों के क्रियान्वयन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। विश्वविद्यालय कानून में राजनेताओं द्वारा समय-समय पर अपनी सुविधानुसार संशोधन की प्रवृत्ति

ने इस त्रासदी को घटाने की अपेक्षा बढ़ाया ही है। 1960 का बिहार विश्वविद्यालय कानून या 1978 का 'प्लेजर' अध्यादेश या कर्नाटक राज्य विश्वविद्यालय कानून 1976 में सितम्बर 1980 के दौरान किया गया संशोधन इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इस संशोधन के द्वारा धारा 11(4) में यह प्रावधान किया गया कि कुलपति कुलाधिपति की इच्छा के मुताबिक ही पद पर रह सकता है। इस तरह के मिलते जुलते प्रावधान आंध्रप्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम 1963, उड़ीसा कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय अधिनियम 1965, शेर कश्मीर कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय अधिनियम 1982, म.प्र. विश्वविद्यालय अधिनियम 1973 तथा उ.प्र. विश्वविद्यालय अधिनियम 1973 में भी विमोचित हैं।

इन कार्यवाहियों ने कुलपति की नियुक्ति और विमुक्ति प्रणाली के बारे में कई प्रश्न खड़े किये हैं। देश के सभी विश्वविद्यालयों में समान कानून तथा कुलपति पद का सही चयन कैसे हो इस बाबद एक जैसी प्रणाली आज की प्राथमिक आवश्यकता है। वस्तुस्थिति यह है कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है और कुलपति का पद भी हास्यास्पद बन कर रह गया है। शिक्षा तथा शिक्षा के इस सर्वोच्च पद की गरिमा को पुनर्स्थापित करने के लिए राजनीतिक एवं अन्य स्तर पर उपचारात्मक कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरा सबसे अहम मुद्दा है शिक्षा के स्वरूप की एकरूपता। देश का कोई भी कोना क्यों न हो सभी दूर समान शिक्षा जरूरी है।

प्रत्येक विश्वविद्यालय चाहे वह केन्द्रीय हो या राज्य का उसे संसद या विधानसभा के कानूनों के अन्तर्गत वैधिक स्थिति प्राप्त होती है। मध्यप्रदेश ने अपने सभी परम्परागत विश्वविद्यालयों के नियमों में एकरूपता लाने के लिये म.प्र. विश्वविद्यालय अधिनियम 1973 बनाकर इस दिशा में एक अनूठी पहल की है। यह अधिनियम छात्र, शिक्षक एवं कर्मचारियों के हितों की रक्षा तो करता ही है, साथ ही यह प्रत्येक विश्वविद्यालय की कार्यप्रणाली के लिये एक अच्छी व्यवस्था निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश में इस दिशा में जो महत्वपूर्ण पहल की है वह अन्य राज्यों के लिये भी अनुकरणीय हो सकती है- यह है इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी कुलपतियों की समन्वय समिति का गठन। इस समिति की बैठकें एक निश्चित अंतराल के बाद समय-समय पर राज्यपाल की अध्यक्षता में होती रहती हैं जो सभी विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति भी हैं। समन्वय समिति सभी विश्वविद्यालयों में शिक्षा की एकरूपता तथा प्रशासकीय समरूपता के लिये निर्णय लेती है और उन्हें लागू करने का प्रयास किया जाता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत कुलाधिपति को कुलपतियों की नियुक्ति करने का अधिकार और उनकी नियुक्ति करने की प्रक्रिया निर्धारित की गई है।

अधिनियम की धारा 13 के तहत एक त्रिसदस्यीय समिति गठित करने का प्रावधान है। इस समिति में विश्वविद्यालय की कार्य परिषद का एक प्रतिनिधि, दूसरे राज्य के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश या उनके द्वारा मनोनीत न्यायाधीश तथा तीसरा कुलाधिपति का प्रतिनिधि। यह समिति तीन व्यक्तियों का एक पेनल बनाती है जिसमें से एक को कुलाधिपति द्वारा 4 वर्ष के लिये कुलपति नियुक्त किया जाता है। समिति को यह कार्य सम्पादित करने के लिए 6 सप्ताह की अवधि भी नियत है।

धारा 14(3) के तहत कुलाधिपति को अधिकार है कि वह चाहे तो कुलपति को कार्य अवधि के पूर्व हटा सकता है। धारा 52 के तहत राज्य शासन को विश्वविद्यालय कार्यपरिषद और अन्य निकायों को भंग करने का अधिकार है लेकिन यह उन्हीं परिस्थितियों में होना चाहिए जब सरकार को इस बात का समाधान हो जाए कि विश्वविद्यालय का प्रशासन अधिनियम के प्रावधानों के अनुरूप नहीं चलाया जा रहा है। जब इस धारा का उपयोग किया जाता है तो पदासीन कुलपति को भी अपना पद छोड़ना पड़ता है। नया कुलपति, कुलाधिपति द्वारा राज्य सरकार के परामर्श से नियुक्त किया जाता है।

प्रकटतः तो यह अधिनियम समस्त हितों की रक्षा करता है लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं होता। इसके क्रियान्वयन में कुछ कठिनाइयाँ भी आ रही हैं। कुलपति की नियुक्ति को ही लीजिए यद्यपि त्रिसदस्यीय समिति पर्याप्त रूप से प्रतिनिधिपूर्ण है परन्तु इसका गठन कभी-कभी विवादग्रस्त हो जाता है और ये समिति और समिति द्वारा सुझाए गए पेनल सत्तारूढ़ पार्टी की मनोकामना के अनुसार बनते और बदलते देखे जा सकते हैं।

- (1) शुरुआत कार्यपरिषद के प्रतिनिधि की नियुक्ति से ही होती है। कुलपति चूँकि इस स्थिति में होता है कि वह अपने प्रभाव का उपयोग कर सके इसलिए वह दूसरे कार्यकाल की चाह में या अपनी पसंद के उत्तराधिकारी की नियुक्ति के लिए प्रयास करता है। इस उद्देश्य से वह समिति में अपनी पसंद के प्रतिनिधि नियुक्त करवाता है। स्थिति यहाँ तक आ जाती है कि चुनाव करवा कर मतदान करवा लिया जाता है। यह स्थिति आने वाले कुलपति के लिए मनमुटाव पैदा कर देती है। ऐसी परिस्थिति में विश्वविद्यालय कार्यपरिषद् के प्रतिनिधि के रूप में कुलपति द्वारा चयन समिति में सदस्य मनोनीत करने का कार्य उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, जो पूर्व में संबंधित प्रदेश से संबद्ध रहे हों, अथवा राज्य के चुनाव आयुक्त अथवा लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के माध्यम से करवाना उचित होगा- कार्यपरिषद् तीन सदस्यों का एक पेनल बना ले और उसमें से उपरोक्त महानुभाव गुण-दोष के आधार पर एक व्यक्ति का नामांकन चयन समिति के सदस्य के रूप में करें।

- (2) कुलाधिपति के प्रतिनिधि की नियुक्ति के प्रश्न पर भी विचार की आवश्यकता है। कई बार कुलाधिपति अपनी पसंद के व्यक्ति को समिति में नियुक्त करने के प्रयास करते हैं। यह प्रवृत्ति उस समय अधिक होती है जब कुलाधिपति पूर्व में किसी राजनैतिक दल से संबद्ध रहे हों। ऐसे परिदृश्य में राज्य सरकार और कुलाधिपति में अंतर्कलह की स्थिति बनती है। ऐसी स्थिति वर्तमान में तमिलनाडु में निर्मित हुई और स्थानीय विधानसभा ने राज्यपाल के स्थान पर मुख्यमंत्री को कुलाधिपति बनाने का कानून-संशोधन पास कर लिया। ऐसी अवस्था में यह सवाल उठता है कि क्या राज्यपाल को कुलाधिपति बनाने की प्रथा जारी रखी जाना चाहिये- मुख्यमंत्री को तो कुलाधिपति होना ही नहीं चाहिये। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को क्यों न कुलाधिपति बना दिया जाए? इससे पूर्व भी कई बार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने अपने कार्य के अलावा विश्वविद्यालय के इस पद को सुशोभित किया है। इसी के अनुरूप मुख्य न्यायाधीश कुलाधिपति के पद के लिये सर्वथा उपयुक्त होगा।
- (3) इस मुद्दे पर भी विचार किया जाना चाहिए कि समिति द्वारा सुझाए पेनल के उम्मीदवारों का साक्षात्कार क्यों न लिया जाए। ऐसी प्रणाली तमिलनाडु में प्रचलित है। साक्षात्कार समिति में कुलाधिपति अध्यक्ष के रूप में, मुख्य न्यायाधीश (अगर वे कुलाधिपति न हों जैसा प्रस्ताव सुझाया गया है) या उनके प्रतिनिधि, यूजीसी के अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि, दो प्रसिद्ध शिक्षाविद् जो उस राज्य के न हों जहां के उम्मीदवार पेनल में हों, रखे जा सकते हैं। तमिलनाडु में शिक्षा मंत्री भी साक्षात्कार समिति में शरीक होते हैं किन्तु यह अस्वस्थ परम्परा है। यह तत्काल प्रभाव से समाप्त होना चाहिये।
- (4) कुलपति की नियुक्ति की तरह उसकी विमुक्ति की प्रक्रिया में भी परिवर्तन आवश्यक है। जिस तरह से कभी-कभी कुलपतियों को हटाया जाता है वह प्रक्रिया बड़ी स्वेच्छाचारी लगती है। इस सन्दर्भ में सुझाव है कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों या लोक सेवा आयोग के सदस्यों को पदमुक्त करने के लिए जो प्रणाली अपनाई जाती है कुछ ऐसी ही प्रणाली कुलपति को पदमुक्त करने के लिए भी अपनानी चाहिए। निःसंदेह इस प्रक्रिया में समय अधिक लगेगा लेकिन समय सीमा निर्धारित कर अनावश्यक विलंब की स्थिति से बचा भी तो जा सकता है। समूची प्रक्रिया 6 सप्ताह में निपट जाए ऐसी कोई समय सीमा बांध दी जानी चाहिए।

विश्वविद्यालय शिक्षा आज चौराहे पर खड़ी है। हर विश्वविद्यालय अपने ढंग से दिशाहीन शिक्षा देकर स्नातक पैदा करने की होड़ में लगा हुआ है। इससे बेरोजगारी की समस्या तो बढ़ ही रही है युवकों में नैराश्य और कुंठा भी बढ़ती जा रही है। विश्वविद्यालय ऐसे अभिज्ञात संस्थान

हैं जो राष्ट्र के एकीकरण तथा विकास में प्रभावी भूमिका निभाते हैं। इस पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समूचे देश में यथासंभव शिक्षा का एक सरीखा स्वरूप होना चाहिए।

यह तभी संभव हो सकता है जब पाठ्यक्रम में मोटे तौर पर समानता हो, परीक्षा प्रणाली एक जैसी हो, प्रशिक्षण के तरीके भिन्न-भिन्न न हों, रोजगार उन्मुख व्यावसायिक पाठ्यक्रम शुरू किये जाएं। इससे विश्वविद्यालयों के शिक्षक, कर्मचारी व छात्रों का असंतोष दूर होगा। छात्रों का एक विश्वविद्यालय से दूसरे में प्रवेश सुगम हो सकेगा।

कुलपतियों और छात्रों के बीच जीवित संपर्क भी जरूरी है। कुलपति समय-समय पर शिक्षा संस्थाओं का निरीक्षण-परीक्षण करें। सभी तरह के भेदभाव समाप्त किए जाएं। विश्वविद्यालयीन शिक्षकों, अध्यापन विभाग और संबद्ध उच्च शिक्षा के लिये शिक्षकों की चुनाव प्रक्रिया में भी एकरूपता होना चाहिये- उनकी सेवा नियोजन राज्य सरकार के अन्तर्गत हो या विश्वविद्यालय के या अशासकीय संस्थाओं के। शिक्षा समवर्ती सूची में होने के कारण इस उद्देश्य की पूर्ति केन्द्रीय अधिनियम द्वारा पूरी हो सकती है अथवा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को जो वर्तमान में मुख्यतया वित्तीय संस्था की तरह काम करता है, पर्याप्त अधिकार इस कार्य के लिये देने पर।

एक अन्य महत्वपूर्ण मुद्दा विचारणीय है कि विश्वविद्यालयों में धार्मिक संप्रदाय और पंथिक विचारधाराओं के विकास के लिए चेयर कायम की जाए या नहीं? यह एक अस्वस्थ परंपरा है तथा धर्मनिरपेक्षता के हमारे मूलभूत सिद्धान्तों के विपरीत है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में ऐसी प्रवृत्तियां समाप्त की जाना चाहिए।

विश्वविद्यालयों की समस्याओं पर खुली बहस होनी चाहिए। ऐसी बहस में विचारों के आदान प्रदान से अच्छे और ठोस नतीजे सामने आ सकते हैं।

केन्द्र सरकार एवं राज्यपाल के संवैधानिक दायरे

हाल ही के आंध्रप्रदेश एवं गुजरात राज्यों के संवैधानिक गतिरोध ने राजनीतिक क्षेत्रों में बेहद सरगर्मी पैदा की है जिसकी वजह से राज्यपाल की पद-संस्था पुनः चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बन गई है।

आंध्रप्रदेश में चन्द्रबाबू नायडू के नेतृत्व वाले तेलगुदेशम पार्टी के एक धड़े ने राज्यपाल से माँग की थी उनके साथ बहुमत है और रामाराव मंत्रिमंडल को बर्खास्त किया जाना चाहिए और उन्हें तुरन्त मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई जानी चाहिए। दूसरी ओर तत्कालीन मुख्यमंत्री रामाराव ने राज्यपाल से विधानसभा भंग करने की सिफारिश की और पुनः विधानसभा चुनाव कराने की माँग की थी। राज्यपाल ने न तो रामाराव की और न उनके जमाई चन्द्रबाबू नायडू की माँगें स्वीकार की बल्कि राज्यपाल ने रामाराव को तीन दिन में विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का आदेश दिया। राज्यपाल ने यह निर्णय उच्चतम न्यायालय के उस दृष्टिकोण के तहत लिया जिसके तहत एस.आर. बोम्मई के प्रकरण का निपटारा हुआ था कि बहुमत के दावे का सही निर्णय करने का स्थान विधानसभा का पटल ही है, ये बात जुदा है कि किसी प्रकरण में ऐसा करना किन्हीं स्थितियों में असंभव हो।

गुजरात में सांसद श्री शंकरसिंह वाघेला के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी के विधानसभा सदस्यों के एक दल ने केशूभाई पटेल के नेतृत्व के विरोध में बगावत की और कांग्रेस पार्टी व स्वतंत्र सदस्यों की मदद से नया मंत्रिमंडल गठन करने का दावा किया था। उनके दावे को नकारते हुए राज्यपाल श्री नरेशचन्द्र ने मुख्यमंत्री से सात दिन में विश्वास का मत प्राप्त करने को कहा।

जहां तक आंध्रप्रदेश का सवाल है आंध्रप्रदेश में चंद्रबाबू नायडू ने राज्यपाल पर यह आरोप लगाया कि रामाराव को विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने की अनुमति के बहाने वे बागी सदस्यों को पुनः रामाराव के खेमे में वापस लौटने का मौका देना चाहते थे। यहाँ यह जानना रोचक होगा कि आंध्रप्रदेश के राज्यपाल श्री कृष्णकांत की 1990 में नियुक्ति राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार द्वारा की गई थी और श्री रामाराव के नेतृत्व वाली तेलगुदेशम पार्टी राष्ट्रीय मोर्चे का ही एक हिस्सा थी।

आंध्रप्रदेश व गुजरात की स्थिति बेहद समानांतर है क्योंकि दोनों ही विधानसभाओं में बगावत पार्टी के अन्दर से हुई थी। इसलिए दोनों राज्यों के राज्यपालों ने एक जैसा निर्णय लिया जिसकी वजह से किसी-न-किसी बहाने उनकी आलोचना भी की गई।

उपरोक्त निर्णय व राज्यपालों के पूर्व में लिए गए निर्णय संविधान में प्रदत्त अधिकारों से जुड़े प्रावधानों के बारे में प्रश्न खड़े करते हैं। इस संबंध में राज्यपाल की नियुक्ति को लेकर भी चिंतन की जरूरत है और ऐसा महसूस किया जाता है कि गैर-राजनीतिक आधार पर गवर्नर की नियुक्ति की जानी चाहिए।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल के पद का प्रादुर्भाव 1935 के भारत सरकार एक्ट के तहत किया गया था जिसके आधार पर राज्यपाल वस्तुतः एक संवैधानिक तानाशाह होता था। स्वतंत्रोत्तर युग में इस विचार में परिवर्तन आया। संविधान सभा ने संविधान का मसौदा तैयार करते वक्त इस मसले पर गौर किया था। संविधान के मूल मसौदे में राज्यपाल की नियुक्ति को लेकर दो विकल्प सुझाए गए थे। एक तो राष्ट्रपति द्वारा विधानसभा के चुने हुए सदस्यों के पेनल में चार नामों से, जो कि एक मताधिकार के नियम के आधार पर गुप्त मतदान द्वारा विधानसभा सदस्यों द्वारा चुने गए हों, नियुक्त किया जाये। दूसरा विकल्प था कि राज्य की जनता सीधे चुनाव करे।

बाद में देश में जो राजनीतिक घटनाएँ घटीं उनसे इस मसले पर पुनर्विचार हुआ। ऐसा भी महसूस किया गया कि केन्द्र आवश्यकता के अनुरूप शक्तिशाली नहीं रहेगा और सभी इकाइयों को एक साथ लेकर नहीं चल पायेगा। इसलिए केन्द्र में एक सशक्त सरकार की बात जोर पकड़ने लगी जिससे कि केन्द्राभिमुखी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जा सके। यह भी महसूस किया गया कि चुना गया राज्यपाल, एक ओर तो मुख्यमंत्री से और दूसरी ओर मंत्रिमंडल से, जो कि वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने गए हैं, टकरा सकता है। संवैधानिक सभा में यह संदेह भी व्यक्त किया गया था कि चुने गए राज्यपाल मुख्यमंत्री से गठबंधन कर केन्द्रीय सरकार को चुनौती दे सकते हैं। इसलिए संविधान के अंतिम मसौदे में जो 26 जनवरी 1950 से लागू हुआ, राज्यपाल को औपचारिक प्रमुख के रूप में स्वीकार और उसकी शक्तियों को सीमित किया गया और यह जरूरी समझा गया कि वह सभी कार्यकलापों में मंत्रिमंडल की अनुशंसा के आधार पर कार्य करे। इस तरह राज्यपाल का पद एक संवैधानिक प्रमुख के नाते उभरा जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा संविधान की धारा 155 के तहत की जाती है। धारा 156 में यह उल्लेखित किया गया है कि राज्यपाल राष्ट्रपति की इच्छानुकूल अपने पद पर रहेंगे। इसी धारा के खण्ड 3 में यह उल्लेखित किया गया है कि राज्यपाल संवैधानिक योजना के अनुरूप पाँच वर्षों के लिए अपने पद पर बने रहेंगे। चूंकि राष्ट्रपति स्वयं संवैधानिक प्रमुख हैं, इसलिए यथार्थ में राज्यपाल की नियुक्ति एवं पदच्युत करने का अधिकार वस्तुतः केन्द्रीय शासन के हाथ में है।

फिर भी 1949 में संवैधानिक सभा में जो बहस हुई थी उससे लगता है कि संविधान

निर्माताओं का यह उद्देश्य कभी नहीं रहा था कि राज्यपाल केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि रहे। रघुकुल तिलक के प्रकरण में 1979 में यह बात सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दी थी जबकि यह प्रश्न उठाया गया था कि “राष्ट्रपति के चाहने तक” से क्या तात्पर्य होता है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी निश्चित, उद्घोषणा में इस तथ्य को सुस्पष्ट किया है :

“यह सच संदेह से परे है कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, जिसका अर्थ है कि प्रभाव व तथ्य में भारत सरकार ही यह नियुक्ति करती है, परन्तु यह नियुक्ति का तरीका है और इसका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि राज्यपाल भारत सरकार का मुलाजिम या नौकर है। (यह संवैधानिक व्यवस्था है जिससे राज्यपाल का कार्यकाल निर्धारित किया जा सकता है परन्तु इससे भारत सरकार राज्यपाल की नियुक्ता या मालिक नहीं हो जाती।)”

फिर भी वर्तमान परिदृश्य बहुत दुःखद स्थिति पेश करता है। राज्यपाल की नियुक्ति और पदविहीन करने में संविधान गढ़ने वालों की भावनाओं को मद्देनजर नहीं रखा गया है। विशेष रूप से नेहरू युग के पश्चात जो राजनीतिक तत्व केन्द्र में सत्ता में आए हैं वो राज्यपाल की नियुक्ति में दलगत राजनीति से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। आज कोई भी संवैधानिक पद राज्यपाल से ज्यादा असुरक्षित नहीं है। केन्द्र सरकार की झक के अनुरूप राज्यपाल का तबादला किया जा सकता है उसे हटाया जा सकता है या उसके साथ डांट-डपट भी की जा सकती है। 1977 में जनता पार्टी के नेता इंदिरा गांधी की आलोचना करते थे कि उन्होंने राज्यपाल के पद का दुरुपयोग किया परन्तु जब जनता पार्टी सत्ता में आई तब उन्होंने भी वही किया। 1989 में जब राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार सत्ता में आई और जब विश्वनाथ प्रतापसिंह के हाथों में नेतृत्व था, तब उन्होंने तो सब पिछले रेकार्ड तोड़ दिये। उन्होंने सामूहिक तौर पर सभी राज्यपालों को बदल डाला और पाँच वर्ष के कार्यकाल की बात मखौल बन कर रह गई।

सिक्के का दूसरा पहलू भी गौर करने लायक है। पहले कुछ राज्यपाल थे और आज भी हैं, जिनकी योग्यता, समझ और ईमानदारी संदेह से परे है। हालांकि ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि कई राज्यपाल अपने कर्तव्य निर्वाह में व्यक्तिगत और दलगत राजनीति से ऊपर नहीं उठ सके। राज्यपालों पर ऐसे आरोप लगते रहे हैं कि वे केन्द्र में सत्ताधारी दल के पक्ष में काम करते हैं। ऐसा भी आरोप है कि वे केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में काम करते हैं और अपनी संवैधानिक जिम्मेदारी का स्वतंत्र रूप में निर्वाह नहीं करते। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि राज्यपाल के उच्च एवं संवैधानिक पद का अत्यधिक अवमूल्यन हुआ है।

प्रश्न यह है कि क्या नियुक्ति के तौर-तरीकों के पुनर्आकलन की जरूरत है और अगर ऐसा है तो क्या किसी बदलाव की जरूरत है। साठ के दशक में प्रशासनिक सुधार आयोग

ने इस पर विचार किया था और आयोग ने सिफारिश की थी न्यायपालिका के क्षेत्र से और मुख्यमंत्री को अस्वीकार व्यक्तियों को राज्यपाल के पद पर नियुक्ति नहीं करना चाहिये । इसके बावजूद भी इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया और राज्यपाल का पद उन राजनीतिज्ञों के लिए शरणस्थली बन गया है जो या तो चुनाव हार चुके हैं या जिनकी परेशान करने की ताकत ज्यादा है या वो नेता जो सत्ता दल के बाहर हैं और उन्हें अपने राज्य से दूर रखना आवश्यक है, या सेवा-निवृत्त उच्च अधिकारी इस पद पर नियुक्त कर दिये जाते हैं । इसे ध्यान में रखते हुए या अन्य कारणों से (स्व.) इंदिरा गांधी द्वारा सरकारिया आयोग का गठन किया गया था जिसका मकसद केन्द्र-राज्य संबंधों का परीक्षण करना था । आयोग ने 1987 में प्रस्तुत विस्तृत रिपोर्ट में “राज्यपाल की भूमिका” के मुद्दे का विश्लेषण किया है और ईमानदार प्रयास कर प्रश्नावली तैयार कर मूल्यवान सिफारिशें पेश की हैं । आयोग ने 22 राज्यों, 6 राष्ट्रीय, 9 राज्य स्तरीय, 5 पंजीयत और 19 अन्य राजनीतिक दलों- संगठनों की राय हासिल करने के बाद सिफारिशें दी थी । आयोग की मूलभूत सिफारिशें निम्नलिखित हैं :-

- (1) राज्यपाल राजनीति के अलावा किसी क्षेत्र में प्रसिद्ध होना चाहिए ।
- (2) वे उस राज्य में पदस्थ होना चाहिए जहाँ वे निवास न करते हों ।
- (3) राज्यपाल निर्लिप्त व्यक्ति होना चाहिए - राज्य की स्थानीय राजनीति में कम से कम दखल रखने वाला होना चाहिए ।
- (4) राज्यपाल ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने पूर्व में राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा न की हो ।
- (5) अल्पसंख्यक समुदाय को प्राथमिकता देना चाहिए ।
- (6) यह जरूरी है केन्द्र में सत्ताधारी दल के किसी राजनीतिज्ञ को उस राज्य में राज्यपाल नहीं बनाना चाहिए जहां केन्द्र से भिन्न राजनीतिक दल या गठबंधन सरकार सत्ता में हो ।
- (7) संविधान के अनुच्छेद 155 का समुचित रूप से संशोधन करना चाहिए जिससे कि राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति के समय उस प्रदेश के मुख्यमंत्री से प्रभावशाली परामर्श सुनिश्चित हो सके ।
- (8) राज्यपाल की नियुक्ति के समय उपराष्ट्रपति व लोकसभा अध्यक्ष से भी परामर्श किया जाना चाहिए ।

सरकारिया आयोग की रिपोर्ट पेश करने के आठ वर्ष बाद आज राजनीतिक एवं नैतिक मूल्यों में और भी गिरावट आ गई है जिसके बारे में समय-समय पर समाचार-पत्रों में रिपोर्ट्स प्रकाशित होती रहती हैं ।

अब समय आ गया है कि इस देश की जनता खुली व मुक्त चर्चा राज्यपाल व उनके पद के बारे में करना चाहेगी ताकि उस पद की अर्हताएँ/आवश्यकताएँ और इस उच्च पद पर नियुक्ति के मानदंडों को लेकर सुझाव दिये जा सकें जिससे कि इस पद की महिमा, प्रतिष्ठा और निष्पक्षता अक्षुण्ण रखी जा सकें। राज्यपाल के पद के लिए उम्र, शैक्षणिक अर्हताएं, पारिवारिक पृष्ठभूमि, प्रशासनिक व पदानुकूल अनुभव, राजनीतिक, सामाजिक व शैक्षणिक जीवन में निष्कलंक व्यवहार- इन सब विषयों पर खुली बहस की आवश्यकता है। इस पद के लिए इस बात पर जोर देना होगा कि इसे स्वीकार करने से 20 वर्ष पूर्व तक किसी राजनीतिक दल से संबंध नहीं होना चाहिए क्योंकि राजनीतिक जीवन में सक्रिय व्यक्ति से ये उम्मीद करना कि वो राजनीतिक उठा-पटक एक डंका बजाते ही बंद कर दे और पद की मान मर्यादा के अनुरूप स्वयं को ढाले, कुछ ज्यादा ही होगा। चूंकि राज्यपाल एक संवैधानिक प्रमुख है एक सुपरिभाषित प्रक्रिया उसकी नियुक्ति, स्थानान्तर व पदच्युत करने के बारे में अपनानी चाहिए जो कि आज तक नहीं अपनाई गई है। जो प्रक्रिया सर्वोच्च न्यायालय, चुनाव आयोग और अन्य संवैधानिक संस्थाओं के लिए अपनाई जाती है उसी की समकक्ष प्रक्रिया राज्यपाल के पद को लेकर अपनाना चाहिए। राज्यपाल की नियुक्ति में पारदर्शिक तरीके अपनाने चाहिए और लोकसभा अध्यक्ष, भारत के उप-राष्ट्रपति, राज्यसभा उपाध्यक्ष और संसद में विपक्ष के नेता से परामर्श के बाद राज्यपाल की नियुक्ति करना चाहिए। यदि इस पद की संवैधानिक स्थिति बनाए रखना है तो ईमानदार प्रयास करना होंगे और सक्रिय राजनीतिज्ञों की इस पद पर नियुक्ति पर रोक लगानी होगी और किसी भी राजनीतिक दल से जुड़े व्यक्ति को या पूर्व में चुनाव में भाग लेने वाले व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त नहीं किया जाए और पद ग्रहण करने के बाद उन सभी लाभ कमाने वाले स्रोतों से जुदा रहना जरूरी समझा जाना चाहिए और साथ ही राज्यपाल की पुनः अन्य राज्य में नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए।

उपरोक्त सुझावों का मंतव्य है कि राज्यपाल पद पर 5 वर्ष से या एक से अधिक बार नियुक्ति तथा राज्यपाल पद से त्यागपत्र देने के बाद या 5 वर्ष की समयावधि पूर्ण करने के बाद उनके द्वारा किसी भी प्रकार के चुनाव में भाग लेने पर प्रतिबंध होना आवश्यक हो गया है।

उपरोक्त सुझाये गये उपाय निश्चित ही एक कदम होगा जिससे इस पद की पवित्रता व निष्पक्षता कायम रखी जा सकेगी क्योंकि ये पद, हमारे सार्वजनिक जीवन की तरह, नैतिक गिरावट का शिकार हो चुका है।

महिला आरक्षण, अनछुए पहलू

आरक्षण जैसे गम्भीर मुद्दे और उसके दूरगामी परिणामों को लेकर संसद एवं मीडिया में उत्तेजक बहस जारी है। “महिला आरक्षण” का विषय साधारण नहीं है। यह गम्भीरतम विषय है। इस विषय पर आज राष्ट्रीय स्तर पर जो प्रतिक्रिया हो रही है, वह नहीं के बराबर है। सभी प्रयासों के बावजूद महिला आरक्षण विधेयक लोकसभा के पटल पर नहीं रखा जा सका। इस विषय को लेकर भी मीडिया में काफी प्रतिक्रिया हुई।

महात्मा गांधी के जमाने से आज तक किसी न किसी विषय को लेकर आरक्षण के मुद्दे व्यापक चर्चा के विषय रहे हैं। पूर्व में यह मुद्दा अनुसूचित जाति, जनजाति तथा पिछड़े वर्ग (ओबीसी) को लेकर था। इस विषय पर गहन विचार-विमर्श किया गया, आयोग गठित हुए, बुद्धिजीवी वर्ग, न्यायविद व अन्य व्यक्तियों ने मार्गदर्शन भी दिया। पहले भी आरक्षण के मुद्दे को संविधान की मूल भावना के विपरीत ही माना था किन्तु सामाजिक न्याय के सिद्धांत को आधार मानकर संविधान में संशोधन किए गए और इन वर्गों के लिए आरक्षण को संवैधानिक मान्यता दी गई, जो मूलतः दस वर्षों के लिए थी। परन्तु वर्तमान संदर्भ में आरक्षण एकदम भिन्न है और ऐसा उदाहरण विश्व के किसी भी देश में नहीं है।

लोकसभा एवं विधानसभाओं में 33 प्रतिशत महिला आरक्षण पर चर्चा एवं विचार-विमर्श राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हुआ है। निष्कर्ष भी सामने आ रहे हैं। अन्तर संसदीय संगठन राजनीति में महिलाओं की भागीदारी के बारे में 30 वर्षों से विचार-विमर्श कर रहे हैं। इस संस्था द्वारा मार्च 1994 में पेरिस में आयोजित एक सम्मेलन में यह बात स्वीकार की गई कि महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है, और स्थिति यथावत है। इसके बाद बीजिंग में 1995 और फरवरी 1997 में नई दिल्ली में तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष श्री पी.ए. संगमा की अध्यक्षता में आयोजित विश्व महिला सम्मेलन में भी “महिला और पुरुष की भागीदारी” विषय पर काफी चर्चा हुई। इस सम्मेलन में भारतीय महिलाओं ने भी भाग लिया। पूर्वानुसार इस सम्मेलन में भी महिला आरक्षण को अस्वीकार कर महिलाओं के लिए कोटा निर्धारित करने पर सहमति हुई। कोटा प्रणाली कुछ राष्ट्रों में प्रचलित है, और पार्टी स्तर पर 50 प्रतिशत स्थानों पर महिलाओं को उम्मीदवार बनाने की व्यवस्था है। दिल्ली सम्मेलन में ही इंग्लैंड की महिला श्री ला फेदर ने आरक्षण को अप्रजातांत्रिक करार देते हुए महिलाओं के लिए कोटा प्रणाली निर्धारित करने की दिशा में पहल करने की सलाह दी। जर्मनी की महिला सांसद तो कोटा प्रणाली को भी अनुचित मानती है। इसके विपरीत अन्य अनेक राष्ट्रों में बगैर किसी आरक्षण व कोटा

प्रणाली के राष्ट्रीय संसद में महिलाओं का अच्छा खासा प्रतिशत है। यह गुणवत्ता के आधार पर है। उदाहरणार्थ स्वीडन के 349 वाले सदस्यों के सदन में महिला सांसदों की संख्या 141 थी जो कि प्रतिशत के मान से 40.4 प्रतिशत थी। इसी तरह नार्वे में 39.4 प्रतिशत, फिनलैंड में 33.5 प्रतिशत, जर्मनी में 20.2 प्रतिशत तथा स्पेन में 24.6 प्रतिशत आंकी गई।

एक और महिला सेवा एजेंसी के अनुसार दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्र फिलीपींस में उच्च पदों पर महिलाओं की संख्या में वृद्धि वंशवाद की परम्परा के कारण हुई, चूंकि पिता तथा पति का स्थान उसी परिवार की महिला सदस्य को मिलता रहा है। इसी कारण फिलीपींस में राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता देश के लगभग 100 परिवारों तक ही सीमित है। महिलाओं को उच्च स्थान प्राप्त करने में उस देश का संविधान भी सहायक रहा है, जिसके अंतर्गत किसी भी व्यक्ति को तीन से अधिक बार विधायिका में जाना प्रतिबंधित (कुल नौ वर्ष) हैं इस देश में भी महिलाओं के आरक्षण का प्रावधान नहीं है।

महिला आरक्षण के बारे में संवैधानिक स्थिति भी स्पष्ट है। संविधान के अनुसार किसी भी प्रकार का आरक्षण संविधान की मूल भावना के विपरीत है। इसका उल्लेख अनुच्छेद 14 में किया गया है (कानून के समक्ष समानता)। अनुच्छेद (15-1581) के अनुसार धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव वर्जित है। अतः महिला आरक्षण का प्रयास अनुच्छेद 15(1) का स्पष्ट उल्लंघन है। इसे नियमित करने का प्रयास संविधान के 84 वें संशोधन के माध्यम से किया जा रहा है। स्पष्ट है कि पूर्व में 83 बार संविधान सुविधानुसार संशोधित किया जा चुका है। बार-बार संविधान के साथ इस प्रकार की छेड़-छाड़ उचित नहीं है। किसी अन्य संदर्भ में पिछले दिनों कांग्रेस प्रवक्ता ने ऐसा ही मत व्यक्त किया था। अतः 84 वाँ संशोधन आवश्यकता के बनिस्बत वोटों की राजनीति पर आधारित है। विडम्बना है कि इस संशोधन के प्रस्तुत होने के समय कतिपय गणमान्य व्यक्तियों ने धर्म आधारित आरक्षण की पैरवी कर 1947 की यादें ताजा कर लीं। भाषा, क्षेत्रीयता एवं अन्य आधारों पर आरक्षण की मांगें हो चुकी हैं और सर्वनाश के लिए धर्म पर आरक्षण की मांग भी आ चुकी है। शुक्र है कि प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने ऐसी तुगलकी मांगों को दृढ़ता से नकार दिया। देश के नागरिकों की ओर से साधुवाद। यह खेद का विषय है कि बुद्धिजीवी वर्ग ने ऐसे संकट के समय भी मौन ब्रत रखा।

अभी महिला आरक्षण विधेयक लोकसभा में आना शेष है। अतः राष्ट्रहित में इस पर समग्र रूप से विचार आवश्यक है। निम्नलिखित मुद्दों पर विचार जरूरी है :-

1. क्या आरक्षण जरूरी है ?

2. आरक्षण के लिए ढूँढे जा रहे, नए-नए आधार कितने उचित हैं ।
3. क्या इस प्रकार के आरक्षण से विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा ?
4. इस आरक्षण के परिणाम क्या होंगे ?

आज के मौकापरस्त और अनैतिक राजनीतिक वातावरण में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि महिला आरक्षण एक षड्यंत्र का अंग है । इस विधेयक के पारित होने के बाद मंत्रिमंडल में प्रतिशत निर्धारण की मांग उठेगी, राष्ट्रपति, राज्यपाल, राजनायक तथा अन्य उच्च पदों के लिए भी आरक्षण की मांग उठने से इनकार नहीं किया जा सकता । प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठाया जाएगा । अन्य आरक्षणों के लिए भी नए-नए आधार ढूँढे जाएंगे । जैसे अल्प संख्यक वर्ग मुख्यतः मुस्लिम, ईसाई, सिख, जैन, बौद्ध, पारसी अल्प संख्यक के आधार पर, देश का युवा वर्ग- आयु तथा कार्यक्षमता, वरिष्ठ नागरिक अनुभव के आधार पर, विकलांग वर्ग (आबादी का 10 प्रतिशत) तथा विभिन्न व्यवसाय जिनका प्रतिनिधित्व विधायिका में आज तक नगण्य रहा है अपने-अपने ढंग से आरक्षण की मांग करेंगे जिसे ठुकराना कठिन होगा । अभिमन्यु की तरह हम एक चक्र-व्यूह में फँस जाएंगे, जिससे बाहर आना कठिन होगा । अस्थिरतावादी व विघटनवादी तथ्य हावी हो जाएंगे । ऐसी स्थितियाँ देश-द्रोह को पनपाएंगी ।

आरक्षण के संबंध में एक अन्य स्थापित तथ्य भी है वह यह कि आरक्षण सुरक्षा की भावना उत्पन्न करता है । सुरक्षा से प्रतिस्पर्धा कम होती है । प्रतिस्पर्धा ही उन्नति तथा विकास की सीढ़ी की पहली पायदान है । अतः महिलाओं का विकास तथा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जावेगा । यह हमारा उद्देश्य कतई नहीं है । उस महिला वर्ग से भी अनुरोध है जो किसी न किसी उच्च पद पर लम्बे समय से आसीन है और महिला आरक्षण के विषय पर उत्तेजित है । (संभव है यह उत्तेजना छदम भी हो) कहीं ऐसा तो नहीं कि यह वर्ग अपने अस्तित्व पर मंडराते बांदलों को देखकर महिला आरक्षण के नाम पर समस्त महिला वर्ग को उत्तेजित कर रहा है । यदि इस वर्ग का उद्देश्य पवित्र है तो इन महिलाओं को अपने पद त्यागकर दूसरी महिलाओं को वह स्थान देकर पुरुष वर्ग को ऐसा करने पर प्रेरित करना चाहिये । जैसा कि (स्व.) संजीव रेड्डी ने कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में दस वर्षीय नियम प्रस्तावित कर ऐसा करने का प्रयास किया था ।

आज हम किसी भी स्थिति में सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं । सत्ता मूल उद्देश्य बन चुका है । महिला आरक्षण भी उसी प्रक्रिया का एक भाग है । यह चिंता का विषय है आरक्षण कभी भी आर्थिक विकास की कड़ी नहीं हो सकता । यह तो सामाजिक विरोधाभास की कड़ी प्रतीत होती है । कथनी-करनी का विरोधाभास, पाखंड और छलावा जितना हमारे देश में विद्यमान है, शायद विश्व के अन्य किसी देश में नहीं है ।

वर्तमान भारत में आरक्षण एक ज्वलनशील पदार्थ बन गया है, जिसे अत्यंत सावधानी व चातुर्यतापूर्वक संभालने की जरूरत है, अन्यथा विध्वंस की ओर बढ़ने से हमें कोई नहीं रोक सकता। इस स्थिति पर नियंत्रण पाने के लिए हम आरक्षण शब्द को ही शब्दकोश से निकाल दें तो उचित होगा। इसके एवज में सर्वप्रथम महिलाओं के शैक्षणिक विकास की ओर ध्यान दें जब वर्तमान में 15 वर्ष से अधिक आयु के समूह में साक्षर महिलाएं केवल 38 प्रतिशत हैं। शैक्षणिक विकास के साथ विधायिका में प्रतिनिधित्व के अवसर स्वतः ही प्राप्त होंगे, जो आज मांगे जा रहे हैं। ऐसा करना अनुचित है। जिस प्रकार कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के लिए मापदंड निर्धारित है, उसी प्रकार के मापदंड विधायिका के लिए भी निर्धारित किए जाएं जिस पर किसी भी वर्ग को आपत्ति नहीं होगी और उसके साथ ही किसी भी प्रकार के आरक्षण की असंवैधानिक मांग स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। इस संदर्भ में तथा राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर अपेक्षा है महिला वर्ग से कि महिला आरक्षण जैसे मुद्दे को वो स्वयं नकार दे, अनुरोध है पुरुष वर्ग से कि महिला आरक्षण या अन्य किसी भी प्रकार के आरक्षण से दृढ़तापूर्वक असहमति व्यक्त करे, प्रार्थना है ईश्वर से कि राजनीतिक दलों को सदबुद्धि दे ताकि राष्ट्रोन्नति के प्रत्येक विषय पर गंभीरतापूर्वक राष्ट्रहित की दिशा में विचार करें न कि स्वार्थपूर्ति के लिए जैसा पिछले कई वर्षों से करते आ रहे हैं।

खण्ड दो

चिकित्सा



1. चिकित्सा शिक्षा - विस्तार की आवश्यकता ।
2. मध्यप्रदेश में स्नातकोत्तर चिकित्सा विज्ञान संस्थान स्थापित हो ।
3. नर्सिंग होम एक अव्यवस्थित व्यवस्था ।
4. चिकित्सा जगत, घटता प्रभाव-बढ़ते दबाव ।
5. नेत्र चिकित्सा एवं लेसर प्रणाली ।
6. नजर अन्दाज न करें आंखों की लाली को ।
7. आंखों की संजीवनी है - विटामिन ।
8. एड्स से भी होती है दृष्टिहीनता ।
9. तम्बाकू भी दृष्टिहीनता का कारण हो सकता है ।
10. नजर के चश्मे - सामान्य जानकारी ।
11. चश्मे के नम्बर - आधुनिक उपकरण - फोकोमीटर ।
12. उद्देश्यहीन बन गये नेत्र शिविर ।
13. लाभदायक होगी - पुर्नसंरचना अन्धत्व निवारण कार्यक्रम की ।

चिकित्सा शिक्षा विस्तार की आवश्यकता

चिकित्सा व्यवस्था मानव जाति के उद्भव के साथ ही किसी न किसी रूप में उपलब्ध है। पुरातन सभ्यता के समय मिस्र, बेबीलोनिया, मेक्सिको तथा पेरू देशों में चिकित्सकीय कार्य धर्मगुरु करते थे जो कि अंधविश्वास, अनुभवजन्य ज्ञान तथा निगरानी पर आधारित थे। भारतवर्ष में चिकित्सा शिक्षा प्रारंभिक वैदिक काल में प्रारंभ हो गयी थी जबकि तक्षशिला तथा नालंदा विश्वविद्यालय में चिकित्सकों को “प्राण आचार्य तथा प्राण विशारा” की पदवी दी जाती थी। उस समय भी कुवैद्यों के ऊपर प्रतिबंध था। चिकित्सा प्रणाली का विकास राहुल संकीरत्यन ने किया जिसका राजा अशोक ने अपने ही राज्य में नहीं अपितु दूसरे देशों में भी विस्तार किया। राजनीतिक व्यवस्था के परिवर्तन से यूनानी तथा पाश्चात्य चिकित्सा व्यवस्था का विकास भारतवर्ष में हुआ। वैसे भारतीय चिकित्सा प्रणाली के आधार स्तंभ धनवंतरी, चरक तथा सुश्रुता का नाम जब तक चिकित्सा व्यवस्था कायम रहेगी, याद रहेगा। इनके योगदान से पूर्व में भारतीय चिकित्सा प्रणाली विश्व में अग्रणी थी, किन्तु ब्रिटिश काल के आने के कारण भारतीय चिकित्सा प्रणाली का महत्व शनैः शनैः कम होता गया और पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली विशेषकर एलोपैथिक का विस्तार हुआ जो आज पूरे देश में फैला हुआ है। इस प्रकार की चिकित्सा व्यवस्था का उदय मध्यकाल से सेलेरनो तथा पेकिंग (चीन) में चिकित्सा शिक्षा की संस्था की स्थापना से हुआ। इस चिकित्सा शिक्षा व्यवस्था का विस्तार पूरे विश्व में राष्ट्रीय स्तर पर किया गया जिसके अन्तर्गत सन् 1518 में रॉयल कॉलेज ऑफ फिजिशियन की स्थापना हुई और बाद में इंग्लैण्ड में ही लंदन, एबरडीन, एडीनबरो तथा डबलीन में चिकित्सीय केन्द्र स्थापित हुए। संयुक्त राष्ट्र संघ अमेरिका में प्रथम चिकित्सा महाविद्यालय सन् 1765 में स्थापित हुआ। सोवियत यूनियन में 80 से अधिक चिकित्सा महाविद्यालय उपलब्ध हैं। क्रान्ति के समय सोवियत गणराज्य में 15 चिकित्सा महाविद्यालय थे और उनमें चिकित्सा शिक्षा लेने वाले छात्रों की संख्या 8600 थी। उस समय यह तथ्य भी उजागर हुआ था कि चिकित्सा महाविद्यालय भौगोलिक दृष्टि से पूरे देश में समान रूप से स्थापित नहीं थे। चिकित्सा शिक्षा के औचित्य तथा विस्तार को संबल देने के लिये ब्रिटेन तथा अन्य देशों में कई समितियां गठित की गईं जिनमें प्रमुख हैं : सिलेक्ट कमेटी 1834, मेलबोर्न कमीशन, फ्लेक्सनर रिपोर्ट (यू.एस.ए.) 1910, सरजान न्युमन्स रिपोर्ट 1918 एवम् 1923, सर विलीयम गुडनोस रिपोर्ट, 1944, फुल ब्राइट कमेटी रिपोर्ट इत्यादि। इसी के बाद 20 वीं सदी में बेसीक डॉक्टर बनाने के विचार के लिये उचित वातावरण निर्मित हुआ। इसी शृंखला में 1822 में भारतवर्ष में पहला मेडिकल स्कूल कलकत्ता में, तत्पश्चात् 1834 में देश के प्रथम दो चिकित्सा शिक्षा महाविद्यालय की कलकत्ता तथा मद्रास में स्थापना के साथ चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं की शृंखला का प्रथम चरण आरंभ हुआ जो अभी तक अनवरत है। इसके साथ चिकित्सा शिक्षा की

अन्य क्षेत्रों की संस्थाएं भी स्थापित हुईं जो आज पूरे देश में पांच प्रकार की हैं :-

(1) स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा संस्थान

(2) चिकित्सा महाविद्यालय

(3) दन्त चिकित्सा महाविद्यालय

(4) परिचारिका शिक्षा संस्थाएं

(5) पैरामेडिकल पाठ्यक्रम संस्थाएं- वैसे तो ये चिकित्सा के क्षेत्र में नहीं आतीं लेकिन, चिकित्सा शिक्षा के साथ अंतरंग संबंध है ।

उपरोक्त संस्थानों के अन्तर्गत पूरे देश में आज चिकित्सा महाविद्यालय, दन्त चिकित्सा महाविद्यालय, परिचारिका शिक्षा महाविद्यालय विद्यमान हैं । इनके अलावा क्षेत्रीय नेत्र चिकित्सा संस्था भी पूरे देश में और मध्य प्रदेश में भी कार्यरत है । सन् 1984 से प्रस्तावित यह नेत्र चिकित्सा संस्था गांधी चिकित्सा महाविद्यालय भोपाल के पूर्व नेत्र विभाग में एक साइन बोर्ड तक ही सीमित है । पूरा राज्य इसकी उपेक्षा तथा दुर्गति पर आज भी आँसू बहा रहा है किंतु सबसे महत्वपूर्ण स्थान चिकित्सा महाविद्यालयों ने अर्जित किया है । जैसे- जैसे आबादी के वर्ष बीतते गए वैसे-वैसे एक तरफ आबादी में बढ़ोतरी हुई और दूसरी ओर चिकित्सा महाविद्यालयों की भी । प्रारंभ में तो सारी चिकित्सा शिक्षा संस्थाएं शासकीय ही होती थीं, किंतु पिछले कुछ वर्षों में निजी क्षेत्र ने भी इसमें प्रवेश पाने में सफलता प्राप्त कर ली है ।

इसी तारतम्य में देश के सबसे बड़े राज्य मध्यप्रदेश में भी चिकित्सा शिक्षा के विस्तार की आवश्यकताओं के ऊपर समय-समय पर चर्चाएं होती रहीं । कभी-कभी आंदोलन भी हुए । इनके पीछे राजनीतिक भावनाएं अधिक रहीं और राजनेताओं का ही योगदान रहा । राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के अनुसार अन्य राज्यों के साथ मध्यप्रदेश भी अपने वर्तमान स्वरूप में सन् 1956 में अस्तित्व में आया । उस समय इस प्रदेश में चार चिकित्सा महाविद्यालय थे । उसके बाद दो चिकित्सा शिक्षा महाविद्यालय, एक दन्त चिकित्सा महाविद्यालय, दो परिचारिका शिक्षा महाविद्यालय एवं एक क्षेत्रीय नेत्र चिकित्सा संस्था स्थापित हुई । इस परिदृश्य का राजनीतिक लाभ उठाने की दृष्टि से सन् 1967 में राज्य के तीन संभाग मुख्यालय बिलासपुर, सागर तथा उज्जैन में चिकित्सा महाविद्यालय स्थापित करने के लिए स्थानीय स्तर पर आंदोलन हुआ जिसको ठंडा करने के लिए तथा चिकित्सा महाविद्यालयों की संख्या में वृद्धि तथा औचित्य के परीक्षण के लिए एक समिति गठित की गई । अधिकृत स्रोतों के अनुसार तो इस समिति ने अपनी कोई अधिकृत रिपोर्ट प्रस्तुत नहीं की किन्तु मेरी स्मरण शक्ति के अनुसार इस समिति ने बिलासपुर

में चिकित्सा महाविद्यालय स्थापित करने का मत दिया था जो आज तक नहीं हो पाया । जो भी हो आज इस राज्य की जनसंख्या छः करोड़ से अधिक है और इसके अनुपात में विभिन्न प्रकार की चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं की संख्या काफी कम है । अतः इनके विस्तार को न तो नकारा जा सकता है न ही आवश्यकताओं को झुठलाया जा सकता है ।

किन्तु हमारे सामने प्रश्न उठता है कि इन विभिन्न प्रकार की चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने की प्राथमिकता क्या हो, कितनी नई संस्थाएं बनाई जाएं और कौन से स्थान पर । वैसे तो इतिहास साक्षी है कि जब भी शैक्षणिक या अन्य किसी भी क्षेत्र की सुविधाएँ स्थापित करने का प्रश्न उठता है- उसके पूर्व से ही कुछ लोग राजनीतिक लाभ प्राप्त करने तथा स्वार्थ सिद्धि के लिये अपने-अपने क्षेत्र का पक्ष सामने रख देते हैं, जिसका गुण-दोष या उपयुक्तता से कोई सरोकार नहीं । परिणाम होता है कि या तो योजना ही ठण्डे बस्ते में चली जाती है या प्रभावशाली दबाव के आगे नतमस्तक ।

आज देश की आबादी लगभग 95 करोड़ है और इंडियन मेडिकल एसोसिएशन के पूर्व अध्यक्ष डॉ. अरविन्द शाह के अनुसार सन् 1991 में पूरे देश में 172 मेडिकल कॉलेज कार्यरत थे जिनसे प्रतिवर्ष सोलह हजार चिकित्सक बनते हैं । इसके बाद भी (सन् 1991 के बाद) नए चिकित्सा महाविद्यालय स्थापित हो ही रहे हैं और आज इनकी संख्या 200 के पास पहुँच चुकी होगी । डॉ. शाह ने चिकित्सा महाविद्यालयों की वृद्धि के विरोध में मत व्यक्त किया था । इससे सीधा संबंध तो नहीं है किन्तु यह बात भी उजागर करना सामयिक होगा कि शनैः शनैः देश के बजट में स्वास्थ्य के लिए आरक्षित धन के प्रतिशत में कमी आई है । देश की प्रथम पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य के लिये पाँच प्रतिशत धन आवंटित किया गया था जो कि सातवीं पंचवर्षीय योजना में घटकर 1.8 पर पहुँच गया । यदि हम विकसित देशों की तरफ अपनी नजर दौड़ाएं तो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में 11.9, स्वीडन में 9.5, वेस्ट जर्मनी और फ्रांस में 8.2 और ब्रिटेन में बजट का 6.2 प्रतिशत आवंटित किया जाता है । इसको विडम्बना ही कहा जाएगा कि एक तरफ तो देश की आबादी बेतरतीब बढ़ती जा रही है, उसके नियंत्रण के सारे प्रयास असफल हो रहे हैं, चिकित्सा व्यवस्था पूर्णतया अव्यवस्थित एवं अनियंत्रित है और दूसरी ओर स्वास्थ्य के लिए धन की कमी । इन हालात में क्या किया जाए यह एक विचारणीय मुद्दा है । इसके साथ एक और जुड़ा हुआ प्रश्न है कि देश में नीम हंकीम लोगों की संख्या भी कम नहीं जिसमें सरकार का योगदान भी रहा है । पूर्व में तत्कालीन केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री स्व. श्री राजनारायणजी ने “बेअर फूट डाक्टर्स” की योजना को कार्यान्वित कर इस प्रकार के लोगों की संख्या में वृद्धि करने का कार्य किया था । इस प्रकार की अन्य योजनाएं बाद में भी कार्यान्वित हुईं जिनसे लाभ के बजाय हानि ही हुई और उसकी रोकथाम के लिए कारगर उपाय की ओर किसी का ध्यान

ही नहीं आकर्षित हुआ है। इन सब तथ्यों से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि चिकित्सा संस्थाओं का विस्तार किया जाए। राष्ट्रीय स्तर पर इस पर विचार भी हुआ जो कि मेरी मान्यताओं से भी मेल खाता है कि 50 लाख की आबादी के ऊपर एक चिकित्सा महाविद्यालय हो। आज 200 के लगभग चिकित्सा महाविद्यालय तथा इतने ही अन्य प्रकार के चिकित्सा प्रणाली के महाविद्यालय जैसे आयुर्वेदिक, यूनानी और होम्योपैथिक उपलब्ध हैं। यह संख्या 400 के आसपास पहुंच गई है। हालांकि प्रति 50 लाख की आबादी के मान से तो चिकित्सा संस्थाओं की संख्या पूरी हो चुकी है किन्तु यह कटु सत्य है कि आज चिकित्सा क्षेत्र में आकर्षण का केन्द्र चिकित्सा महाविद्यालय (मेडिकल कॉलेज) हैं न कि आयुर्वेदिक, यूनानी, होम्योपैथिक चिकित्सा शिक्षा प्रणाली जिसके लिए समय-समय पर जैसे ही अवसर प्राप्त होते हैं, हमारे राजनेता इसके बढ़ावे के लिये समारोहों में उपदेश देते रहते हैं किन्तु उनका भी इस चिकित्सा शिक्षा प्रणाली या चिकित्सा प्रणाली में विश्वास नहीं है अतः ये उपदेश मिथ्या ही होते हैं।

यदि 50 लाख की आबादी पर एक चिकित्सा महाविद्यालय की स्थापना का मापदण्ड मान लिया जाए तो इस प्रदेश में 12 चिकित्सा महाविद्यालय होना चाहिए जो प्रतिवर्ष 1800 नये चिकित्सक तैयार करेंगे।

चिकित्सा महाविद्यालय, दन्त चिकित्सा महाविद्यालयों की स्थापना क्रमशः मेडिकल कौंसिल ऑफ इण्डिया अधिनियम 1956 (102-1956) जिसमें संशोधन होने के बाद अब वे रेग्यूलेशन ऑफ 1993 के अन्तर्गत तथा डेंटल कौंसिल ऑफ इण्डिया एक्ट 1948 (1600-1948) रेग्यूलेशन ऑफ 1993 के अन्तर्गत किये जा सकते हैं। इसी प्रकार परिचारिका शिक्षा विद्यालय भी इण्डियन नर्सिंग कौंसिल के द्वारा प्रतिपादित रेग्यूलेशन के अन्तर्गत हो सकते हैं। चिकित्सा महाविद्यालय की स्थापना चार प्रकार की संस्थाएँ कर सकती हैं :-

- (1) देश का कोई भी राज्य या केन्द्र शासित राज्य
- (2) विश्वविद्यालय
- (3) संस्थाएं (सोसाइटीज) जो 1860 के पंजीकरण कानून के अन्तर्गत पंजीकृत हैं यह पब्लिक ट्रस्ट, धार्मिक या पारमार्थिक संस्थाएं जो ट्रस्ट रजिस्ट्रेशन एक्ट 1882 के अन्तर्गत पंजीकृत हों इत्यादि।
- (4) आटोनामस बाडीज (स्वायत्तशासी संस्थाएं) प्रमोटेड बाय सेंट्रल गवर्नमेंट।

चिकित्सा महाविद्यालय स्थापित करने की मंशा रखने वाली संस्था के लिये आवश्यकताएँ निर्धारित की गई हैं, जिनमें प्रमुख हैं :-

- (1) 20-50 एकड़ भूमि की उपलब्धता
- (2) 300 शय्याओं वाला चिकित्सालय
- (3) प्रोजेक्ट रिपोर्ट
- (4) 2 बैंक ग्यारण्टी (मेडिकल कौंसिल ऑफ इण्डिया के पक्ष में) जिसकी न्यूनतम राशि भी निश्चित है ।

- (अ) बैंक ग्यारण्टी 1-2 करोड़ (प्रवेश पाने वाले छात्रों की संख्या पर आधारित)
- (ब) बैंक ग्यारण्टी 3.5 से 7.5 करोड़ (चिकित्सालय में शय्याओं की संख्या पर आधारित)

बैंक ग्यारण्टी का प्रावधान राज्य सरकारों पर लागू नहीं होता । इनके अलावा भी कुछ और आवश्यकताओं की पूर्ति संस्था प्रारंभ होने से पूर्व ही होनी चाहिए । आज प्रदेश में औद्योगिक घराने या अन्य संस्थाएं जो कि चिकित्सा महाविद्यालय स्थापित करना चाहते हैं, 300 शय्याओं वाले चिकित्सालय की शर्त पूरी करने की स्थिति में नहीं हैं । इनकी नजर संबंधित जिले के शासकीय जिला चिकित्सालय की ओर घूम चुकी है ताकि येनकेन प्रकारेण यह शर्त पूरी हो चुकी है ऐसा आभास दिया जा सके ।

उपरोक्त तथ्यों का म.प्र. के सन्दर्भ में परीक्षण किया जाए और चिकित्सा शिक्षा के विस्तार के बारे में सोचा जाए तो कई बातें सामने आती हैं । जैसा कि पूर्व में कहा है चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं को केवल चिकित्सा महाविद्यालय के सन्दर्भ में देखना एक बहुत बड़ी भूल होगी । सर्वप्रथम इस बात पर विचार कर प्राथमिकता तय की जाए कि प्रथम चरण में कौन से क्षेत्र के लिये चिकित्सा शिक्षा संस्था स्थापित हो । मेरा मतव्य है कि चिकित्सा महाविद्यालय, दंत चिकित्सा महाविद्यालय, परिचारिका शिक्षा महाविद्यालय, स्नातकोत्तर चिकित्सा संस्थान या पैरामेडिकल प्रशिक्षण संस्थान इन सबके लिये तथ्यों, आवश्यकताओं, उपलब्ध सुविधाओं तथा धन की उपलब्धता को दृष्टिगत करते हुए निर्णय लेना होगा । आज के परिवेश में इस राज्य में एक पैरामेडिकल शैक्षणिक शिक्षा संस्था, 10 नए परिचारिका शिक्षा महाविद्यालय, 11 दंत चिकित्सा महाविद्यालय, 6 चिकित्सा महाविद्यालय, 1 स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा संस्था की आवश्यकता है जिसके ऊपर क्रमशः 5, 10, 15, 50 तथा 500 करोड़ रुपये का व्यय अनुमानित है । यहां तो हुई धन की बात इसके बाद प्रश्न आता है स्थान का । समग्र दृष्टि से यह उचित होगा कि सर्वप्रथम चिकित्सा संस्थाओं को स्थापित करने के स्थान का चयन कर लिया जावे । तत्पश्चात प्रस्तावित संस्थाओं की संख्या निर्धारित की जावे ताकि अनअपेक्षित दबावों से बचा जा सके । वर्तमान उपलब्ध विभिन्न प्रकार की संस्थाओं की संख्या को दृष्टिगत रखते हुए उचित होगा कि क्रमशः पैरा-मेडिकल

ट्रेनिंग संस्थान, परिचारिका शिक्षा, दंत चिकित्सा, चिकित्सा शिक्षा एवं स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा संस्थाएं स्थापित की जाएं। यह क्रम राज्य की चिकित्सा आवश्यकता को पूरा करने में कदम होगा।

पैरा मेडिकल ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट की अनुपलब्धता के फलस्वरूप आज के आधुनिक चिकित्सालयों में प्रशिक्षित तकनीकी कार्यकर्ता हैं ही नहीं। किसी प्रकार आधी-अधूरी जानकारी वाले लोगों से चिकित्सक काम चलाते हैं। अतः यह आवश्यक हो गया है कि विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित व्यक्ति उपलब्ध कराये जावें। इसकी आवश्यकता नये-नये उपकरणों के उपयोग भी बढ़ती जा रही है। इस प्रकार के प्रशिक्षित कर्मचारियों के न होने से मँहगे तथा आधुनिक उपकरण कई बार तो उपयोग के पूर्व ही खराब हो जाते हैं।

मध्यप्रदेश की आवश्यकताओं तथा आदिवासी जनसंख्या को दृष्टिगत रखते हुए मेरी विनम्र सुझाव है कि प्रदेश का सातवां चिकित्सा महाविद्यालय बस्तर संभाग में स्थापित किया जाए, उसी क्षेत्र में राज्य का दूसरा दंत चिकित्सा महाविद्यालय तथा तीसरा परिचारिका शिक्षा संस्थान भी। खेद है कि पिछले लम्बे समय से राजनेताओं ने आदिवासी मुख्यमंत्री की बातों की किन्तु इस आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र में चिकित्सा शिक्षा संस्थान स्थापित करने का विचार उनका स्वप्न में भी नहीं आया। दूसरे नम्बर पर आता है बिलासपुर और तीसरे पर सागर। इन स्थानों में संस्थान स्थापित होने के पश्चात अन्य स्थानों का चयन प्रदेश के अन्य उपयुक्त तथा पिछले क्षेत्रों में कर लिया जाए। यहाँ महाराष्ट्र प्रांत का उल्लेख करना सामयिक होगा, जहाँ पर पिछले मराठवाड़ा क्षेत्र के एक ग्रामीण स्थान “अम्बाजोगाई” में चिकित्सा शिक्षा महाविद्यालय सन् 1974 में स्थापित किया गया जो कि ग्रामीण चिकित्सा महाविद्यालय के नाम से जाना जाता है। ऐसा ही एक और ग्रामीण चिकित्सा महाविद्यालय सन् 1984 में लोनी में स्थापित किया गया। मध्यप्रदेश शासन ने विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के अन्तर्गत पंचायती राज की स्थापना का अभूतपूर्व कार्य किया है, यह प्रशंसनीय है। इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत-

(1) किसी भी नगर में किसी एक प्रकार की संस्था की संख्या एक से अधिक न हो।

(2) प्रत्येक संभागीय मुख्यालय पर जहाँ पूर्व से ही विश्वविद्यालय कार्यरत है- चिकित्सा संस्थाएं स्थापित की जाएं।

(3) डेंटल कौंसिल के मतानुसार दंत चिकित्सा महाविद्यालय, चिकित्सा महाविद्यालय से 10 कि.मी. की दूरी से अधिक पर न हो।

अब प्रश्न उठता है, इन चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने के लिये धन की उपलब्धता का। धन के अभाव को कारण बताकर निजी क्षेत्र में ये संस्थाएँ स्थापित करने के विचार को प्रोत्साहित किया जा रहा है। हमारे सामने कम से कम देश के दो ऐसे राज्य महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के उदाहरण सामने हैं जिनमें शासकीय चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं की तुलना में अशासकीय संस्थाओं की संख्या अत्यधिक है। यदि मेरी जानकारी सही है तो ये सारी चिकित्सा संस्थाएँ राजनेताओं द्वारा नियंत्रित हैं और इनमें प्रवेश पाने के लिये टेबल के नीचे एक अच्छी खासी मोटी राशि देना पड़ती है जो कि दो से बारह लाख रुपये तक बताई जा रही है। इन निजी चिकित्सा संस्थाओं में फीस और अन्य खर्च भी शासकीय संस्थाओं की तुलना में अधिक होता है। जो छात्र इतनी मोटी रकम खर्च करने के बाद इन चिकित्सा संस्थाओं से डिग्री हासिल करके बाहर आएगा, उसकी प्राथमिकता होगी कि उसके द्वारा किया गया खर्च जो कि स्वाभाविक रूप से वह एक विनियोग मानता है उसको पूरा करने का प्रयास। इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि चिकित्सा शिक्षा की स्थिति हमारे देश में किस हद तक बिगड़ चुकी है। उसके लिए किसी को भी दोषी करार देने से काम नहीं चलेगा। विचार तो सुधार के उपायों पर करना होगा। आज चूंकि निजीकरण का वातावरण निर्मित हुआ है उस वातावरण का लाभ चिकित्सा के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए औद्योगिक घराने उठा रहे हैं। संबंधित औद्योगिक घराने दो वर्गों से सहायता प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं-

(1) राजनेता / नौकरशाही जो अति उत्साह के कारण, कुछ नया कर गुजरना चाहते

हैं।

(2) सेवा निवृत्त अधिकारी / चिकित्सक जो सेवानिवृत्ति के बाद पुनः सेवा में आना चाहते हैं- अपने-अपने ढंग से राजनेताओं/नौकरशाही को प्रभावित कर रहे हैं- आश्चर्य की बात है कि शासकीय सेवा में तो सेवानिवृत्ति की आयु निर्धारित है, किन्तु निजी संस्थाओं में कोई आयु ही निर्धारित नहीं हुई है या नहीं होने दी गई।

जो भी औद्योगिक घराना या संस्था इतनी मोटी रकम लगाएगा वो सेवा के लिये नहीं बरन् लाभ कमाने के लिये ही होगा। अतः व्यवसायिकता तो होना ही है जो कम से कम हम चिकित्सा के क्षेत्र में नहीं चाहते। इस व्यवसायिकता को समाप्त करने के लिये हाल ही में मध्यप्रदेश शासन ने चिकित्सकों की निजी प्रैक्टिस पर प्रतिबन्ध लगाया है।

निजी क्षेत्र में चिकित्सा शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करने का यह रोग अन्य राज्यों में फैल रहा है। उत्तरप्रदेश तथा बिहार भी इसकी चपेट में आ चुके हैं। प्रसन्नता की बात है कि मध्यप्रदेश तथा आसपास के राज्य अभी इस महामारी से बचे हुए हैं। इसका अर्थ कदापि यह

मध्यप्रदेश में स्नातकोत्तर चिकित्सा विज्ञान संस्थान की स्थापना हो

हमारे संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 47 में कहा गया है कि लोक स्वास्थ्य को प्रभावशील बनाना राज्य के प्रथम कर्तव्यों में से एक होगा। संविधान को लागू हुए 47 वर्ष हो गये एवं इस दिशा में क्या कदम उठाये गये, उनके क्या परिणाम निकले और प्राथमिकता के आधार पर क्या कार्यवाही आवश्यक है, इन प्रश्नों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। विशेषकर म.प्र. जैसे आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े राज्य के संदर्भ में तो यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

यदि हम ऐतिहासिक तथ्यों पर दृष्टि डालें तो प्राचीन काल में स्वदेशी ढंग की चिकित्सा प्रणाली के प्रचलन के अतिरिक्त कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता और पुरातत्वीय और उपग्रहों से प्राप्त आज तक प्रमाणों से पता चलता है कि हड़प्पा सभ्यता के हड़प्पा और मोहन जोदड़ों नामक दो प्रमुख नगरों का पता चला है जो नियोजित ढंग से बसे हुए थे। इन नगरों में भव्य इमारतें, जल-मल निकास और जल आपूर्ति प्रणाली इस बात का द्योतक है कि उस काल में पर्यावरण की सुरक्षा विचार विद्यमान था। तक्षशिला (अब पाकिस्तान) में नालंदा जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय अस्तित्व में थे। तक्षशिला विशेषकर चिकित्सा के लिए विख्यात था। नालंदा में मेडिकल स्कूल होने का उल्लेख है। ईसा से 300 वर्ष पूर्व आयुर्वेद प्रणाली के पितामह धनवंतरी का उल्लेख मिलता है। इस अवधि में चिकित्सा शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकें तथा अस्पतालों के अस्तित्व का भी पता चलता है। ईसाकाल प्रारंभिक वर्षों में चरक का औषधिशास्त्र तथा सुश्रुत की शल्य चिकित्सा शास्त्र सर्वश्रेष्ठ पाठ्य-पुस्तकें थीं। ईसा पश्चात (600 से 1850) की अवधि में मुस्लिम शासकों द्वारा यूनानी चिकित्सा पद्धति को प्रवेश और संरक्षण मिला। बाद में ब्रिटिश शासकों के आगमन के साथ पश्चिमी चिकित्सा प्रणाली जो कि अन्य सभी पद्धतियों की सिरमौर अभी भी बनी हुई है, उसका आगमन हुआ परंतु ब्रिटिश काल में लोक स्वास्थ्य की दशा निम्न स्तर की थी।

हैजा, चेचक, प्लेग और मलेरिया जैसी जानलेवा महामारियों का प्रकोप होता रहता था। 1951 में उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार कुल मृत्यु संख्या 57.5 प्रतिशत मलेरिया तथा अन्य बुखारों से ही होता था और प्रसूति मृत्युदर और बाल मृत्युदर भी अत्यधिक थी। प्रति हजार बीस माताएँ प्रसूति के दौरान ही चल बसती थीं। एक वर्ष तक के शिशुओं की मृत्यु दर 20.5 प्रतिशत और 1 से 5 वर्ष तक के शिशुओं की मृत्युदर 15.8 प्रतिशत थी। लोक स्वास्थ्य के निम्न स्तर का सबसे बड़ा कारण था प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मियों का अभाव। जहां ब्रिटेन में प्रति एक हजार की आबादी के पीछे एक प्रशिक्षित चिकित्सक था वहीं भारत में 6,300 लोगों के

लिए एक। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब विकास के लिए क्रमिक पंचवर्षीय योजनाएँ क्रियान्वित हुईं तब शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी सामाजिक सेवाओं के विकास की प्रक्रिया भी आरंभ हुई। प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) के स्वास्थ्य के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत करते समय निम्नलिखित महत्वपूर्ण अभ्युक्ति की गई थी :

चिकित्सा शिक्षा, चिकित्सा अनुसंधान और चिकित्सा सेवा में पारस्परिक संबंध है यह सर्वमान्य है कि, किसी भी अंचल में चिकित्सा महाविद्यालय से संबद्ध चिकित्सालय होने से उस क्षेत्र की चिकित्सा सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार होता है और उसी प्रकार चिकित्सा अनुसंधान के वातावरण में भी चिकित्सा शिक्षा की गुणवत्ता में वृद्धि होती है। अतः यह स्पष्ट है कि इन तीनों कार्यक्रमों का नियोजन एक साथ होना चाहिए इसलिए सभी प्रकार के स्वास्थ्य कर्मियों का प्रशिक्षण उच्च प्राथमिकता के आधार पर होना चाहिए। समय-समय पर अनेक समितियाँ बनी और इन समितियों ने सामुदायिक स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याओं का अध्ययन कर अपनी रिपोर्ट पेश की। इस संदर्भ में सबसे पहली स्वास्थ्य सर्वेक्षण तथा विकास समिति (भोर कमेटी 1946) की रिपोर्ट तथा हाल ही में योजना आयोग द्वारा गठित सन् 2000 तक सबके लिए स्वास्थ्य समिति की रिपोर्ट उल्लेखनीय है। दुर्भाग्य की बात है कि इसके बावजूद उच्च विशेषताओं के विकास की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है विशेषकर म.प्र. जैसे राज्य के संदर्भ में। यहां यह उल्लेख प्रासंगिक होगा कि म.प्र. विशेष रूप से इन्दौर, चिकित्सा शिक्षा तथा चिकित्सा सेवा दोनों दृष्टि से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। 50 के दशक तक इन्दौर के पूर्व किंग एडवर्ड हॉस्पिटल मेडिकल स्कूल ने देश में चिकित्सकों की आवश्यकता को पूरी करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस संस्था ने अपना पहला शताब्दी समारोह राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी के मुख्य आतिथ्य में मनाया था।

म.प्र. जो देश का हृदय स्थल है का क्षेत्रफल 443.5 हजार वर्ग कि.मी. और जनसंख्या 6 करोड़ 64 लाख है। इस दृष्टि से यह देश का दूसरा बड़ा राज्य है। यहाँ तीर्थ स्थलों, पर्यटन केन्द्रों, व्यावसायिक और औद्योगिक क्षेत्रों में हर वर्ष लाखों लोगों का आवागमन होता रहता है जिससे कि प्रदेश की आबादी में इजाफा होता है।

राज्य की 37 प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जाति और जनजातियों की है। इनमें जनजाति के लोग 22.9 प्रतिशत तथा अनुसूचित जाति के 14.10 प्रतिशत हैं। इस हिसाब से म.प्र. को आदिवासी राज्य की संज्ञा दी जाती है। आदिवासियों की अपनी अनोखी संस्कृति तो होती ही है, परंतु उनका आर्थिक पिछड़ापन अधिक महत्वपूर्ण तथ्य है। इसलिए इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

म.प्र. की तुलनात्मक स्थिति : टीकाकरण, गर्भवती स्त्रियों की देखभाल और जन्म लेने वाले शिशुओं के वजन की दृष्टि से भी म.प्र. अन्य राज्यों की तुलना में पिछड़ा हुआ है किंतु उजला पक्ष भी तो है- चिकित्सा शिक्षा की इस राज्य में पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं। छः चिकित्सा महाविद्यालय हैं जिनकी प्रतिवर्ष प्रवेश क्षमता एम.बी.बी.एस. पाठ्यक्रम के लिए 220 है। इनके साथ-साथ दंत चिकित्सा महाविद्यालय, नर्सिंग कालेज, क्षेत्रीय नेत्र चिकित्सा संस्थान, नर्सिंग स्कूल, नेत्र, शिशु एवं कैंसर अस्पतालों, कई निजी चिकित्सा संस्थाएँ तकनीशियनों तथा पैरा चिकित्सालय कर्मियों के प्रशिक्षण के लिये पर्याप्त संस्थाएँ मौजूद हैं। सभी चिकित्सा महाविद्यालयों में स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा की व्यवस्था भी है और एम.डी. तथा एम.एस. की उपाधि प्रदान की जाती है। शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये ये संस्थाएँ मानव और भौतिक संसाधनों से सम्पन्न हैं। अतः म.प्र. में चिकित्सा विज्ञान के स्नातकोत्तर संस्थान की स्थापना के लिए आधार पहले से ही उपलब्ध है। ऐसे संस्थान के अभाव में उच्च विशेषता प्राप्त करने के लिए इच्छुक चिकित्सकों को राज्य के बाहर प्रयत्न करना पड़ता है। आश्चर्य की बात है कि एक ओर पांच चिकित्सा महाविद्यालय वाले राज्य पंजाब में उपस्नातक और स्नातकोत्तर प्रवेश संख्या क्रमशः 398 और 298, दिल्ली में 5 चिकित्सा महाविद्यालयों में उप-स्नातकोत्तर और स्नातकोत्तर प्रवेश संख्या क्रमशः 527 और 253 और केन्द्र शासित छोटे से राज्य पांडिचेरी में जहाँ कि उपस्नातकोत्तर और स्नातकोत्तर प्रवेश संख्या क्रमशः 42 और 24 है वहाँ चिकित्सा विज्ञान की स्नातकोत्तर संस्थाएँ अस्तित्व में हैं और दूसरी ओर म.प्र. में चिकित्सा महाविद्यालय स्नातक और स्नातकोत्तर प्रवेश संख्या क्रमशः 750 और 220 से अधिक है वहाँ ऐसी संस्था का अभाव है। आर्थिक और अन्य कारणों से केवल इने-गिने लोग ही ऐसी सुविधाओं का लाभ अन्य राज्यों/विदेश में जाकर उठा पाते हैं। कुछ लोग राज्य सरकार की सहायता से अन्यत्र जाकर, इस सुविधा का लाभ लेते हैं परन्तु, इसका बोझ भी अंततः हमारे राज्य के कोष पर ही पड़ता है, विशेषकर लोक स्वास्थ्य विभाग के लिए पूर्व से ही कम आवंटित राशि में से और कमी पड़ जाती है। निःसंदेह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने कई बिमारियों के उपचार की दिशा में चमत्कारिक सुविधाएँ खोज निकाली हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में अनेक नई-नई शाखाएँ स्थापित हो गई हैं- जैसे कार्डियोलॉजी, कार्डियो वरक्यूलर सर्जरी, न्यूरोलॉजी- न्यूरो सर्जरी, नेफ्रोलॉजी- यूरोलॉजी एन्डोक्रायनोलॉजी मेटाबालिक बीमारियाँ, मेडिकल एवं सर्जिकल जेनेटिक्स, इम्युनोलॉजी, थोरेसिकसर्जरी, आनकोलॉजी तथा ब्लड कैंसर, नेत्र चिकित्सा विज्ञान, न्यूट्रीशनल बीमारियाँ, परिवार कल्याण, हिपेटोलॉजी, छूत की बीमारियों के संदर्भ में माइक्रोबायलॉजी, निओनेटोलॉजी, लैसर चिकित्सा, क्लिनिकल फार्मोकोलॉजी, चिकित्सालय प्रशासन और बायो इंजीनियरिंग आदि। इन शाखाओं में तो म.प्र. पिछड़ा है ही। गंभीर मस्तिष्क रोग जैसे ब्रेन ट्यूमर (लाख पीछे 12.5 प्रतिशत), मिर्गी (हजार पीछे 1 से 2 प्रतिशत), क्रेनियो सेरेब्रलट्रामा जो बहुतायत में होता है,

के उपचार की सुविधा भी केवल मद्रास, बंगलौर तथा अ.भा. आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली तक ही सीमित है। म.प्र. में तथा अन्य कई राज्यों में ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं है।

आजकल आपाधापी के वर्तमान युग में लगभग हर व्यक्ति चिंता और तनाव से ग्रस्त रहता है। तनाव का परिणाम होता है हृदय रोग जिसकी मृत्युदर सबसे अधिक है। प्रति हजार पीछे नौ लोग कन्जेनिटल हृदय रोग से पीड़ित मिलते हैं। इसी तरह रूमेटिक हृदय रोग 1 हजार पीछे 1.7 प्रतिशत आबादी में पाया जाता है। यहां इस्चिमिक हृदय रोग 6 से 23 प्रतिशत सामान्य जनसंख्या में पाया जाता है परन्तु इन बीमारियों की इतनी बहुतायत के बावजूद भी इनके उपचार केन्द्र नगण्य हैं। ऐसे केन्द्र बम्बई में 13, तमिलनाडू में 5 तथा नई दिल्ली और अन्य स्थानों में इने-गिने हैं परन्तु म.प्र. में एक भी नहीं है।

चिकित्सा सेवा की एक अन्य शाखा नेफ्रोलॉजी के विकास की दिशा में भी समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। गुर्दा प्रत्यारोपण और डायलेसिस की सुविधाएँ या तो उपलब्ध नहीं हैं या मुट्ठी भर लोग ही इनका लाभ उठा पाते हैं। इसी तरह एन्डोक्रायनोलॉजी की शाखा भी उपेक्षित है जबकि 2 प्रतिशत आबादी मधुमेह से ग्रस्त रहती है। प्रजनन संबंधी समस्याओं जैसे बांझपन, बंध्यता, ऋतु रोग की चिकित्सा के मामले में भी म.प्र. सहित प्रायः सभी राज्य पिछड़े हुए हैं। अन्य जीवनावश्यक महत्वपूर्ण शाखा है जेनेटिक्स जिसका अभी-अभी दो कारणों से महत्व बढ़ गया है।

1. छोटे परिवार की आवश्यकता के संदर्भ में इस बात की अनिवार्यता है कि, जो भी शिशु जन्म लेवें शारीरिक व मानसिक बाधाओं से मुक्त हों।

2. ये व्याधियाँ जो जिंदा पैदा शिशुओं में दो प्रतिशत होती है, का उपचार हृदय रोग और कैंसर से भी महंगा होता है परन्तु जेनेटिक्स के लिए देश में समेकित सेवाओं का अभाव है। इस दिशा में म.प्र. ऐसे रोगों के उपचार का केन्द्र स्थापित कर, देश में अग्रणी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि यहाँ आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के सभी क्षेत्रों का वर्णन किया जाए। तात्पर्य यह है कि सब समस्याओं का एकमात्र उपाय है एक स्नातकोत्तर चिकित्सा विज्ञान संस्थान की स्थापना, जिस हेतु म.प्र. में पर्याप्त पृष्ठभूमि है। म.प्र. ही क्यों, हर राज्य में ऐसी संस्थान होना चाहिए।

प्रस्तावित संस्थान से अपेक्षा है कि वह अपने बहुउद्देशी लक्ष्यों का एकीकरण कर उसकी विशिष्ट सेवाएँ ऐसे क्षेत्र में प्रदान करे जो न केवल समाज की स्वास्थ्य वृद्धि और विकास में योगदान करें वरन् जनता को प्रगत और गुणात्मक चिकित्सा सेवा उपलब्ध कराये तथा जानकारी

और सूचना का प्रसार भी कराये। इस संस्थान में भविष्य में प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण के लिए विशेषज्ञ प्रशिक्षित किये जायें ताकि उनका ज्ञान तथा तकनीक जिला, संभाग मुख्यालयों तथा चिकित्सा महाविद्यालयों में भी पहुंच सके।

इस संस्थान से यह भी अपेक्षा है कि यहां निरन्तर चिकित्सा शिक्षा हेतु प्रशिक्षकों, व्यवसायी चिकित्सकों और पैरा चिकित्सीय कार्मिकों को प्रशिक्षण मिलता रहे। यहाँ ऊपर लिखित उच्च विशेषताओं के लिए उपचार उपलब्ध रहे और ऐसे उपचार के लिए लोगों को प्रशिक्षित किया जाए। इस संस्थान के माध्यम से राष्ट्रीय चिकित्सा समस्याओं की पहचान और शोध द्वारा उनका समाधान भी खोजा जा सकेगा। यह संस्थान समाज के हित के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य और बीमारियों की देखभाल हेतु समग्र रणनीति, गुणवत्ता, कार्यक्षमता और कार्यसाधकता को प्रभावित करेगा। इस संस्थान में स्नातकोत्तर शिक्षा पाने वाले चिकित्सक, चिकित्सा महाविद्यालयों में शिक्षक के पद पर आसीन होंगे और इस प्रकार उपक्रम स्नातक और स्नातकोत्तर शिक्षा की गुणवत्ता और स्तर की क्रमोन्नति होगी।

यह योजना चरण दर चरण शुरू की जा सकती है। इसके लिए मोटे तौर पर 250 हे. भूमि तथा 500 करोड़ रुपए का अनावरती व्यय अनुमानित है। 25 करोड़ रुपये का आवृत्ति व्यय भी आवश्यक होगा। इसके लिए म.प्र. जैसे संसाधनों से सम्पन्न राज्य को कोई कमी नहीं होना चाहिए। इस योजना के लिए योजना आयोग से विशेष आवंटन प्राप्त किया जा सकता है। शासन चाहे तो अन्य मदों में कटौती करके भी संसाधन जुटा सकता है। अब यह शासन की वास्तविकताओं और संभावनाओं पर निर्भर करेगा।

प्रस्तावित संस्थान का अंतिम लक्ष्य 2000 बिस्तरों वाला होना चाहिए। उसकी पदस्थिति स्वायत्तशासी हो। उसे विभिन्न उच्च विशेषताओं में डिप्लोमा व डिग्री प्रदान करने के अधिकार हों। अन्य चिकित्सा संस्थाओं को इससे संबद्ध कर, उन्हें इसकी संगठक इकाइयों का रूप दिया जा सकता है।

प्रस्तावित संस्था को रातो-रात खड़ा नहीं किया जा सकता है। उसे पूरी तरह से विकसित और सुसज्जित करने में एक दशक का समय लग सकता है। चंडीगढ़ स्थित प्रतिष्ठित संस्था का ही उदाहरण लें इसकी स्थापना तथा विकास पंजाब के तत्कालीन गतिशील मुख्यमंत्री स. प्रतापसिंह केरो के कार्यकाल में हुआ था और धीरे-धीरे इसने जो वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है वह सर्वज्ञात है। आशा है राजनीतिक इच्छाशक्ति से भरपूर राज्य का वर्तमान नेतृत्व इस दिशा में शीघ्रातिशीघ्र कार्यवाही करेगा और राज्य की जनाकांक्षा पूरी होगी। इसके लिए आवश्यक है कि लालफीताशाही से बचा जाये। संस्थान के स्थिति निश्चयन के प्रश्न को लेकर क्षेत्रीय भावनाओं

को नहीं उभारा जाए तथा संस्थान शुरू करने के पूर्व अध्ययन के नाम पर विदेश यात्रा जैसे प्रलोभनों से बचा जाए अन्यथा हम अपने मूल उद्देश्य से भटक जाएंगे ।

नर्सिंग होम एक अव्यवस्थित व्यवस्था

कुछ समय से निजी नर्सिंग होम्स में मध्यम एवं धनाढ्य वर्ग द्वारा उपचार कराना आम बात हो गई है। इसकी वजह से पिछले दो दशकों में देश में निजी चिकित्सालयों एवं नर्सिंग होम्स में बेशुमार बढ़ोतरी हुई है। विशेषकर यह व्यवस्था शहरी क्षेत्रों में जहां शासकीय चिकित्सालय पूर्व से ही उपलब्ध है, यह दिन दूने रात चौगुने के मान से बढ़ी है। उदाहरण के लिये पन्द्रह लाख की आबादी वाले इन्दौर नगर को ले लीजिये जहां पूर्व से ही 15 से अधिक शासकीय उपचार केन्द्र एवं चिकित्सालय उपलब्ध हैं और जहां महाराजा यशवंतराव अस्पताल को शुमार कर लें तो 1000 से अधिक निःशुल्क बिस्तरों की व्यवस्था है, वहां भी लगभग 150 निजी नर्सिंग होम्स स्थापित किये जा चुके हैं। जबकि शासकीय अस्पताल आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित है और वहां प्रत्येक विषय के ख्यातिमान चिकित्सक भी कार्यरत हैं, यही नहीं इन्दौर और इन्दौर जैसे समकक्ष नगर जहां चिकित्सा महाविद्यालय भी हैं जो कि चिकित्सक बनाने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, वहां भी नर्सिंग होम प्रणाली के विस्तार तथा आकर्षण पर विचार आवश्यक है। इस सम्बन्ध में दो प्रश्न हमारे सामने उभरते हैं :-

(1) भारी भरकम बिल देने के बावजूद लोग प्रायवेट नर्सिंग होम्स को प्राथमिकता क्यों दे रहे हैं ?

(2) क्या जो प्रायवेट नर्सिंग होम्स काम कर रहे हैं वहां उपचार व्यवस्था समुचित है ?

पहले प्रश्न को लें तो हम देखते हैं कि आबादी में बढ़ोतरी की वजह से सरकारी चिकित्सा केन्द्रों पर दबाव बढ़ा है जिसके परिणामस्वरूप स्वास्थ्य सेवाएं विशेषकर आपातकालीन स्वास्थ्य सेवाएं प्रभावित हुई हैं और उनका स्तर भी गिरा है। अनेक अस्पतालों में जहां शासन ने कीमती तथा मॉडर्न उपकरण उपलब्ध कराए हैं- विशेषज्ञों की सेवा के अभाव में उपकरण अनुपयोगी सिद्ध हो रहे हैं साथ-साथ शासकीय अस्पतालों में उपकरणों के रख-रखाव को प्राथमिकता के आधार पर नहीं लिया जा रहा है। अपर्याप्त उपकरण, उनके रखरखाव के लिये अपर्याप्त धन तथा उन पर कार्य करने वाले लोगों की अजीबो-गरीब मानसिकता के साथ-साथ अपर्याप्त स्टाफ ने इस समस्या को और भी गंभीर बना दिया है। यहां तक कि कई चिकित्सालयों में उपकरणों का उपयोग होने के पूर्व ही वे खराब हो जाते हैं- शिकायत तो खराब करने की भी मिलती रहती है। शासकीय चिकित्सालयों में चिकित्सकों की समय पर अनुपस्थिति ने इस समस्या को और भी बिगाड़ कर जटिल बनाया है। यकीनन समस्या बद से बदतर हो गई है। परिणामस्वरूप तुरन्त उपचार की आकांक्षा को लेकर मरीज नर्सिंग होम्स की ओर पलायन कर रहे हैं।

यहां यह उल्लेख करना सामयिक होगा कि आज के भौतिकवादी युग में चिकित्सक भी लालची एवं निरंकुश हो गये हैं जो कि निंदनीय है और चर्चा का आम विषय बना है। इस पर अंकुश लगाने के लिये बाध्य होकर राज्य सरकारें विभिन्न उपायों पर विचार-विमर्श कर रही हैं- चिकित्सकों की निजी प्रैक्टिस पर प्रतिबन्ध लगाना उन उपायों में से एक है। वैसे चिकित्सकों की निजी प्रैक्टिस जैसे विषय पर पूरे देश में एकरूपता आवश्यक है- इस दिशा में प्रयास सराहनीय माने जाएंगे। हालांकि निजी प्रैक्टिस पर प्रतिबन्ध से किसी को लाभ नहीं होता- पूर्व अनुभव भी यही बताते हैं। निजी प्रैक्टिस पर प्रतिबन्ध से तो नर्सिंग होम की दूषित एवं अनियंत्रित व्यवस्था तथा संख्या में बढ़ौत्री ही होगी। आवश्यकता है नर्सिंग होम व्यवस्था को व्यवस्थित करने की किन्तु इसके साथ ही शासकीय चिकित्सालयों की दयनीय तथा अनियंत्रित दशा को सुधारने की, इसमें गुणात्मक सुधार करने की तथा काम के समय में चिकित्सकों की उपस्थिति सुनिश्चित करने की। शासकीय चिकित्सकों द्वारा प्रायवेट नर्सिंग होम की स्थापना तथा उन पर “शोध केन्द्र” के लेबल चस्पा करने से गलतफहमी को बढ़ावा मिलता है और अनावश्यक रूप से चिकित्सकों के आदर्शों को आघात पहुंचता है। शासकीय स्तर पर अनुशासन स्थापित न करने की वजह से सरकार को “कमजोर प्रशासन” के विशेषणों से संबोधित होना पड़ता है।

जहां तक दूसरे प्रश्न का सवाल है नर्सिंग होम के विचार को परिभाषित करना उपयुक्त होगा।

“नर्सिंग होम से तात्पर्य ऐसे क्षेत्र से है जिसका उपयोग बीमारी, कमजोरी या चोट ग्रसित लोगों के उपचार हेतु किया जाता है और जहां नर्सिंग सेवाएं और उपचार उपलब्ध होता है और जो प्रसूति सेवाएँ भी उपलब्ध करता है।”

प्रायवेट नर्सिंग होम में भी सब कुछ ठीक-ठाक नहीं है। इस स्थिति का कारण एक तथ्य यह भी है कि ज्यादातर नर्सिंग होम केवल लाभ कमाने के इरादे से स्थापित किए जाते हैं, जिन्हें स्थापित करने में भारी ब्याज की दरों पर रुपया कर्ज लिया जाता है। इसका उत्तरदायित्व वित्तीय संस्थाओं तथा बैंक पर ज्यादा है क्योंकि इन संस्थाओं ने नर्सिंग होम्स को भी उद्योग का दर्जा देकर कर्ज देकर व नर्सिंग होम स्थापित करने में सहायता की है। साथ ही व्यापारी वर्ग ने ट्रस्ट वगैरह इस तरह की संस्थाएं बनाकर प्रायवेट चिकित्सालय स्थापित कर उन पर वर्चस्व स्थापित कर व्यावसायिक रूप से इन मानवीय संस्थाओं को चला रखा है। इससे भी चिकित्सा के क्षेत्र में व्यावसायिकता ने जोर-शोर से प्रवेश किया है- व्यापारी वर्ग को इस तरह की मानवीय संस्थाओं से स्वयं ही दूर रहना चाहिए। इन सब दृष्टिकोणों से देखा जाए तो साहसी चिकित्सकों के लिये नर्सिंग होम्स रुपया कमाने की मशीन बनकर रह जाते हैं।

दिल्ली के संघीय क्षेत्र को छोड़कर तो नर्सिंग होम्स तथा निजी चिकित्सालयों के नियंत्रण के लिये कोई वैधानिक नियम नहीं है जिसके अंतर्गत इन संस्थाओं को संचालित किया जा सके। पचास के दशक से दिल्ली नर्सिंग होम्स एक्ट प्रभावशील है परन्तु इसके प्रावधानों को वर्तमान यथार्थ से जोड़ना ज़रूरी हो गया है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये दिल्ली प्रशासन द्वारा डॉ. एच.एस. आनन्द की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया गया था जिसका मकसद नर्सिंग होम्स से संबंधित नियमों को सुचारु बनाना है। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट भी पेश कर दी है। इसी प्रकार की एक और “जयकृष्ण कमेटी” भी दिल्ली प्रशासन ने गठित की थी। कमेटी की चुनिन्दा सिफारिशों का यहां उल्लेख किया जा रहा है। इसी तर्ज पर मध्यप्रदेश विधानसभा में भी सत्तर के दशक में कानून बनाने का प्रयास किया था जो अभी तक हवा में है, कानून के रूप में अंगीकार नहीं हो पाया है। कुछ इस तरह के प्रावधान लेखक की जानकारी में मद्रास तथा बम्बई में विद्यमान हैं।

यह स्पष्ट है कि इस संबंध में जो प्रयास किये हैं वे अपर्याप्त हैं और मरीजों की कठिनाई व शोषण जारी है। व्यवस्था को बदलने के लिये तीव्रगति से सुधारों की जरूरत है। विपरीत परिस्थितियों में भी उद्देश्यों की प्राप्ति आवश्यक है। उद्देश्यों से तात्पर्य उन उपायों से है जो मानकीकरण, संस्थाओं के वर्गीकरण, नियमों के गठन, सुविधाओं एवं शुल्क से संबंधित हैं और जो शोषणरहित व्यवस्था के लिये ज़रूरी है। यहां तक कि व्यावसायिकों का इस क्षेत्र में आना प्रतिबंधित होना चाहिये क्योंकि उनकी नलाकार दृष्टि होती है। प्रायवेट अस्पतालों तथा नर्सिंग होम्स के मालिकों ने राष्ट्रीय स्तर पर अपना संघ बनाया है जिसकी शाखा मध्यप्रदेश में भी है। यह अत्यन्त दुःखद है कि यह संघ सक्रिय नहीं है और न इसका कोई संविधान है न उपनियम। यह संस्था फर्म एवं सोसायटी एक्ट के तहत पंजीकृत भी नहीं है और इसके उद्देश्य भी परिभाषित नहीं हैं। समय-समय पर इसका उपयोग कठिनाइयों की प्रस्तुति एवं मांगों हेतु किया जाता है जिससे संस्था तथा चिकित्सकों को दुर्भावना के सिवाय कुछ नहीं मिलता। असल में इसका उद्देश्य मरीजों को वाजिब दामों पर अच्छी एवं त्वरित सेवा देना होना चाहिए। वाजिब दामों को भी परिभाषित करना होगा और नर्सिंग होम्स द्वारा “इंडियन ब्यूरो ऑफ स्टैंडर्ड” द्वारा जो मापदंड प्रायवेट हास्पिटल व नर्सिंग होम्स के लिये निर्धारित किये गये हैं उन मापदंडों का क्रियान्वयन किया जाना चाहिए। ऐसा न करने पर संबंधित संस्था की सदस्यता निरस्त कर दी जानी चाहिए।

“इंडियन ब्यूरो ऑफ स्टैंडर्ड” ने अपनी पुस्तिका (1989) में अस्पतालों की योजना हेतु स्थान, क्षेत्र, स्टाफ, पलंगों की संख्या, पानी, बिजली, पार्किंग, पंजीयन उसके नवीनीकरण अन्य सभी चीजों में मूलभूत जरूरतों के बारे में स्पष्ट किया है। निरीक्षण एवं लायसेंस प्रदान करना महज औपचारिकता नहीं होना चाहिए परन्तु स्वतंत्र एजेन्सी द्वारा पारदर्शक तौर-तरीकों से

ये सब किया जाना चाहिए ।

साथ ही नर्सिंग होम्स की बढ़ती संख्या पर भी नियंत्रण आवश्यक है । 50 हजार की आबादी पर 15-20 पलंग वाला एक से अधिक नर्सिंग होम खोलने की अनुमति नहीं देना चाहिए । यह भी पंजीकरण तथा लायसेंसीकरण प्रथा स्थापित किये बगैर संभव नहीं है जिस पर आज तक विचार ही नहीं हो पाया, कार्यवाही तो दूर की बात है ।

न्यूनतम आवश्यकताएँ - 5 से 10 पलंगों के नर्सिंग होम्स के लिए कम से कम 2400 से 3100 वर्गफीट क्षेत्र जरूरी है । यदि इसमें प्रसूति सेवाएं शुमार करना हो तो क्षेत्रफल 500 वर्गफीट और बढ़ाना चाहिये । एकसरे सुविधाएं जिसमें डार्क रूम भी शरीक हो, के लिए 300 वर्गफीट अतिरिक्त स्थान होना जरूरी है । ऐसे नर्सिंग होम्स में मरीजों के लिए निर्धारित स्थान होना चाहिए और संक्रामक रोगियों के लिए पृथक व्यवस्था होना जरूरी है । इसी तरह नवजात शिशु के लिये, शल्य चिकित्सा करने के लिए, ऊष्मायंत्र हेतु, जीवाणुनाशक यंत्र हेतु, औषधियाँ, वस्त्र धोने हेतु, किचन व रसोई भण्डार हेतु अलग-अलग व्यवस्था होना चाहिये साथ ही पुरुष एवं महिलाओं के लिये प्रक्षालन की अलग व्यवस्था होना जरूरी है । इसी तरह परामर्श देने वाले चिकित्सक के लिये व जो भी डाक्टर ड्यूटी पर हो उसके लिये व नर्सेस के लिये पृथक कक्ष होना चाहिये । मरीजों से मिलने आने वालों के लिये स्वागत कक्ष जरूरी है । कचराकूड़ा को जलाने के लिये इंसीनेटर होना आवश्यक है । यह अत्यन्त दुःखद है कि हमारे तथाकथित आधुनिक नर्सिंग होम्स जो कि बिना प्रशिक्षित नर्सों के चल रहे हैं, कहीं भी इन आवश्यकताओं के करीब नहीं हैं क्योंकि ज्यादातर नर्सिंग होम्स रिहायशी इलाकों में स्थित हैं और आवास के कमरों को तब्दील करके बनाये गये हैं । ये स्वास्थ्य लाभ के बजाय कष्टकारक सिद्ध हो रहे हैं क्योंकि ऐसे नर्सिंग होम्स के इर्द-गिर्द गंदगी, धूल, भीड़-भाड़, शोर होने की वजह से मरीज स्वस्थ होने के बजाय बीमारी के और करीब चला जाता है । यही हाल पास पड़ोसियों का भी होता है ।

शुल्क के मानवीकरण के अभाव में नर्सिंग होम्स में शुल्क तालिकाएँ नहीं लगाई जाती है, जिसकी वजह से चिल्ला चोट मचती है । जहां तक चिकित्सा सेवा से जुड़े लोग शासकीय उपचार के वर्गीकरण के समकक्ष शुल्क निर्धारित नहीं करते, वहां तक जैसा दूसरे शासकीय विभागों में होता है, इसमें भी लेन-देन के मामले बंद नहीं किये जा सकेंगे ।

इस सबके बावजूद अपर्याप्त चिकित्सा सुविधाओं वाले नर्सिंग होम्स का प्रतिष्ठित लोगों द्वारा लोकार्पण होता रहता है और बड़े-बड़े भाषण दिये जाते हैं और प्रचार माध्यमों में भी ये सब चर्चित रहते हैं । यह चिकित्सा से जुड़े लोगों, शासन व संबंधित प्रशासनिक इकाई का

उत्तरदायित्व है कि नर्सिंग होम्स की व्यवस्था को सुचारु करें और जिसके लिए इन तीनों की समान जिम्मेदारी है। मैं यह सुझाव देना उचित समझता हूँ कि जनता के लिये समुचित चिकित्सा सुविधाएँ राजनीतिक दलों द्वारा अपनी चुनावी घोषणा-पत्र में शुमार किया जाना चाहिए। चूंकि लोकसभा के चुनावों की सरगर्मी शुरू हो चुकी है भारत के लोगों के स्वास्थ्य कल्याण हेतु इससे अच्छा मुद्दा और क्या हो सकता है।

चिकित्सा जगत - घटता प्रभाव - बढ़ते दबाव

पूरे विश्व में अनादिकाल से चिकित्सकों का समाज में सम्मान रहा है। इस कार्य को श्रेष्ठ मानकर इस वर्ग को स्नेह तथा समय-समय पर सम्मानित और पुरस्कृत भी किया गया है। आज भी देश में डॉ. जीवराज मेहता, बी.सी. राय, एस.एन. कूपर, संतोष कुमार मुखर्जी तथा नन्दलाल बोरदिया जैसी अनेक हस्तियों को उनकी आदर्श एवं उत्कृष्ट सेवाओं के लिये आदर से स्मरण किया जाता है। उत्कृष्ट कार्यों की वजह से चिकित्सकों का पूरे समाज पर अप्रत्याशित प्रभाव था जो शनैः शनैः कम होकर आज के न्यूनतम स्तर पर पहुँच गया। फलस्वरूप चिकित्सक भी विभिन्न प्रकार के दबावों के अन्तर्गत कार्य करने को बाध्य हो गये। यह स्थिति उन्हीं की कार्यशैली का परिणाम है। पूरा चिकित्सा समुदाय आज एक चक्रव्यूह में बुरी तरह फँस चुका है- उससे निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा है।

स्वतंत्रता के बाद देश के नैतिक मूल्यों तथा राष्ट्रीय चरित्र का अवमूल्यन हुआ है। चिकित्सा जगत भी इसकी चपेट में आया है किन्तु चिकित्सीय कार्य की तुलना किसी अन्य कार्य से नहीं की जा सकती। अतः इस क्षेत्र की गिरावट की ओर समाज का ध्यान अधिक आकर्षित हुआ है। दूसरे क्षेत्रों की गिरावट के साथ तुलना कर इस क्षेत्र की विकृतियों को कम करने के प्रयास को हमेशा ही नकारा गया है।

समय-समय पर समाचार पत्रों में चिकित्सकों द्वारा किये गए लापरवाही युक्त कार्यों जैसे - पेट में औजार, कपड़े वगैरे छोड़ना, एक के बजाय दूसरे मरीज की शल्य चिकित्सा करना, शासकीय या अन्य चिकित्सालयों में किये जाने वाले चिकित्सीय कार्य के लिये अनधिकृत पैसे लेना जिसका एक उदाहरण मुम्बई के हृदय रोग शल्य चिकित्सक पर किये गये हमले से प्रमाणित हुआ है, मेडिको लीगल केसेस में लेन-देन, ड्यूटी के समय चिकित्सालय से अनुपस्थिति इत्यादि के समाचार प्राथमिकता के आधार पर प्रकाशित होते रहते हैं। इन सब आरोपों का प्रतिवाद न आने से इनकी सत्यता ही प्रमाणित हुई। चिकित्सा समुदाय ने सामान्य जनमानस की नाराजी ही अर्जित की प्रतिष्ठा तथा प्रभाव को कम होना था- वह हुआ ही है।

पिछले दिनों भोपाल मेडिकल कालेज के हृदय रोग विभाग के एक प्रोफेसर के प्रकरण ने पूरे समाज को झकझोर दिया। उन पर आरोप है कि उन्होंने आय के अनुपात से अधिक धन अर्जित किया - इस प्रकार के या इससे भी अधिक गंभीर आरोप प्रतिदिन राजनेताओं तथा नौकरशाही पर लगते रहते हैं, किन्तु उन पर एक अन्य गंभीर आरोप भी लगा है कि उन्होंने शासकीय चिकित्सालय (जिसमें वो कार्यरत थे) के उपकरणों को क्रियाहीन किया ताकि प्रतिबंधित निजी

प्रेक्टिस के समय भी बीमार उनकी बेनामी क्लिनिक पर आने को बाध्य हों। इस प्रकार के आरोप नए नहीं हैं- पूर्व में भी लगे हैं किन्तु चालाक तथा प्रभावशाली होने के कारण आरोपी कानून की गिरफ्त से बचते रहे हैं।

चिकित्सा समुदाय पर आरोपों की शृंखला सतत् है। अभी दिनांक 5.4.98 को एक निजी चैनल पर आयोजित परिचर्चा में भी चिकित्सकों के विरुद्ध जन आक्रोश का भारी प्रदर्शन हुआ- कई प्रकार के आरोप लगे उनमें प्रमुख थे- कमीशनबाजी-अनावश्यक जाँच तथा शल्य चिकित्सा के लिये परामर्श, बेतरतीब खर्च, असावधानी इत्यादि। आरोप यह भी था कि चिकित्सक न तो अभिलेख देते हैं न ही बीमार तथा उनके परिजनों को मार्गदर्शन जैसी सहायता करते हैं। वहाँ उपस्थित एक वरिष्ठ चिकित्सक ने इसकी पुष्टि भी की। इंडियन मेडिकल एसोसिएशन के राष्ट्रीय सचिव ने भी आरोपों को स्वीकार किया और दंड देने का आश्वासन भी दिया। इस प्रकार के सार्वजनिक रूप से लगातार लगते रहे आरोपों से चिकित्सा समुदाय की प्रतिष्ठा कैसे कायम रह सकती है। इन स्थितियों पर नियन्त्रण पाने के लिये गहन विचार-विमर्श आवश्यक है ताकि अव्यवस्थित चिकित्सा व्यवस्था को सुनियोजित करने का प्रयास किया जा सके। इस प्रयास में चिकित्सा समुदाय तथा उनके संगठनों का सहयोग आवश्यक होगा अन्यथा सफलता की अपेक्षा करना व्यर्थ होगा।

भारत-वर्ष में प्रचलित चिकित्सा व्यवस्था पर एक नजर दौड़ाना आवश्यक है क्योंकि इस व्यवस्था ने भी चिकित्सा क्षेत्र को अव्यवस्थित तथा व्यावसायिक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है :-

- | | |
|-----------------|--------------------|
| (1) अ. शासकीय | ब. निजी-गैर शासकीय |
| (2) अ. शैक्षणिक | ब. गैर शैक्षणिक |

मोटे तौर पर चिकित्सा व्यवस्था को आज खुले रूप से अशोभनीय अलंकरणों से अलंकरित किया जा रहा है जिसका पूरा दोष चिकित्सकों पर डाला जा रहा है। हम न तो इसका विरोध करना चाहते हैं न ही इसे झुठलाने का प्रयास - किन्तु विश्लेषण अवश्य चाहते हैं। चिकित्सा व्यवस्था की व्यावसायिकता संदेह से परे है- इसका प्रमुख कारण है निजी क्षेत्र की चिकित्सा व्यवस्था का विकास। निजी क्षेत्र में चिकित्सा सेवा के विकास में शासन का अभूतपूर्व योगदान रहा है। यदि शासकीय चिकित्सालय भवनों का जर्जर हाल, सुविधाओं जैसे- औषधियाँ, शल्य चिकित्सा में लगने वाली सामग्री, एक्स-रे, लेबोरेटरी की विश्वसनीयता, चिकित्सकों की अनुपलब्धता तथा औपचारिकताओं में लगने वाले अप्रत्याशित समय जैसी सामान्य बातों पर शासन-प्रशासन का ध्यान जाता तो विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज जैसी बर्बरता चिकित्सा

क्षेत्र में नहीं दिखती और न इसके फलस्वरूप निजी क्षेत्र में चिकित्सा को प्रोत्साहन मिलता । इस स्थिति के लिये चिकित्सक तो दोषी है ही किन्तु हमारी कल्याणकारी सरकार तथा टूटा-फूटा भ्रष्ट प्रशासनिक तंत्र भी कम दोषी नहीं है । इन परिस्थितियों ने बीमार को निजी चिकित्सालयों की शरण लेने के लिये बाध्य किया है । दूसरी ओर शासकीय चिकित्सालयों में बची-खुची सुविधाएं भी प्रभावशाली व्यक्ति दोहन कर लेते हैं जिसमें चिकित्सक भी सद्भावना प्राप्त करने हेतु सहयोग देते हैं । चिकित्सीय क्षेत्र में व्यावसायिकता के प्रवेश की पृष्ठभूमि भी कम रोचक नहीं है । जब तक यह कार्य केवल चिकित्सक करते रहे- व्यावसायिकता शब्द इस कार्य के साथ जुड़ नहीं पाया किन्तु जैसे ही संदर्भ बदले- वित्तीय संस्थाओं ने इसे उद्योग का दर्जा दिया, ऋण उपलब्ध होने लगा - इस देश के व्यावसायिक समाज-सेवियों ने भी इस क्षेत्र पर दस्तक दी, इसमें प्रवेश किया और अपने-अपने रूप से इस क्षेत्र को व्यावसायिकता में परिवर्तित कर दिया- चिकित्सक भी इस दोष के भागीदार बने । निष्ठापूर्वक किये गये चिकित्सीय कार्य को हमेशा प्रशंसा, प्रभाव तथा आर्थिक लाभ भी मिला है जिस पर किसी ने आपत्ति नहीं की ।

वर्तमान में चिकित्सा पर होने वाले खर्च में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है । इसमें चिकित्सकों द्वारा लिया जाने वाला पारिश्रमिक तथा जाँच के जंजाल में उलझाने वाला खर्च भी सम्मिलित है । कई बार यह अनावश्यक भी सिद्ध हुआ है । आज के युग में चिकित्सा व्यवस्था ने नये-नये आकार लिये हैं । समूह प्रैक्टिस (पॉली क्लिनिक) की प्रथा भी स्थापित हुई है । इस प्रथा ने भी विकृतियाँ पैदा करने में अमूल्य योगदान दिया है किन्तु इसमें एक अन्य तथ्य भी जुड़ा है- चिकित्सा व्यवस्था में नये-नये उपयोगी उपकरणों का आविष्कार हुआ जो महंगे हैं और आयातीत भी । नई-नई जीवनोपयोगी दवाइयों का भी आविष्कार हुआ जिनकी उपलब्धता कम है फलस्वरूप ये दवाईयाँ महंगी तथा मनचाहे भावों पर बिकती हैं । चिकित्सक भी आज उपकरण तथा लेबोरेटरी पर अधिक निर्भर हो गए हैं । फलस्वरूप जाँच की मात्रा में अप्रत्याशित वृद्धि हुई जो कई बार अनावश्यक मानी जाती है । नये उपकरणों के माध्यम से चिकित्सीय कार्य को नई दिशा मिली है जो मानव जाति के हित में भी है । इससे कई प्रकार के असाध्य रोगों पर नियन्त्रण भी हुआ है । कई लोगों की जानें भी बची हैं । इस प्रकार की आधुनिकतम चिकित्सा व्यवस्था जो कि एक विशेषज्ञता एवं सुपर स्पेशलाइजेशन का युग माना जाता है, में खर्च की मात्रा अधिक होना स्वाभाविक है । सामान्य लोगों की आपत्ति, अनावश्यक जाँच, अवांछित उपचार, चिकित्सकों द्वारा लिये जाने वाले पारिश्रमिक जिसका प्रतिशत अत्यधिक है, के ऊपर है । अनावश्यक जाँच का परामर्श जो कि कमीशन की प्राप्ति के लिये दिया जाता है उचित नहीं ठहराया जा सकता और नैतिकता के मापदंडों के विपरीत भी । इन्हीं क्षेत्रों में संयम से काम लेने पर चिकित्सा जगत ही साख का गिरता हुआ ग्राफ थम सकेगा किन्तु यह भी कटु सत्य है कि सामान्य जनमानस

को चिकित्सा पर बढ़ते हुए खर्च के प्रति तथा निःशुल्क चिकित्सा व्यवस्था की आकांक्षा के प्रति दृष्टिकोण को बदलना होगा। चिकित्सकों द्वारा किये गये कठिन तथा जोखिम भरे कार्यों के लिये पीठ भी थपथपाना होगी जिसमें आज का समाज वर्तमान वातावरण की वजह से कंजूस हो गया है। उदाहरणार्थ भोपाल गैस त्रासदी के समय चिकित्सकों ने अभूतपूर्व कार्य किया - कुछ तो स्थायी बीमारियों से भी ग्रसित हो गए किन्तु समाज से उन्हें प्रशंसा तक भी प्राप्त नहीं हो पाई - यह उत्साहवर्द्धक नहीं है।

चिकित्सकों से संबंधित विवादित तथा चर्चित मुद्दा निजी प्रैक्टिस का भी है। चिकित्सकों पर आरोप है कि निजी प्रैक्टिस के प्रति सम्मान एवं व्यस्तता के कारण वे चिकित्सालयों में कार्य नहीं करते। वर्तमान नियमों तथा प्रशासनिक व्यवस्था में ऐसे लोगों को दंडित करने का प्रावधान है। इन प्रावधानों का उपयोग न करना प्रशासनिक व्यवस्था की ही अकर्मण्यता का द्योतक है। सत्य तो यह है कि निजी प्रैक्टिस पर प्रतिबंध से किसी भी वर्ग को लाभ नहीं हुआ। इतना अवश्य हुआ है कि कतिपय ख्यातिमान विशेषज्ञों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया। फलस्वरूप संबंधित चिकित्सालयों में उक्त क्षेत्र की विशेष निदान एवं उपचार की निःशुल्क व्यवस्था ही समाप्त हो गई। इसका श्रेय किसे दिया जाए? अतः इस बिंदु पर भी विचार-विनिमय आवश्यक है। इन सबका निचोड़ यही है कि एक ओर चिकित्सा पर लगने वाला खर्च बढ़ा जिसे समाज बाध्यता के कारण स्वीकार कर रहा है, दूसरी ओर चिकित्सकों की विश्वसनीयता अत्यधिक कम हुई है। प्रतिष्ठा का ग्राफ तो नीचे आता रहा है किन्तु चिकित्सक मानें या न मानें उन पर दबाव भी बढ़ रहे हैं। खेद है कि इतनी अधिक आलोचना, प्रतिक्रिया एवं प्रतिदिन की चर्चाओं के बाद भी चिकित्सा समुदाय के किसी भी संगठन ने इस दिशा एवं स्थिति को सुधारने की पहल नहीं की। इसका अर्थ यही निकाला जाएगा कि इन संगठनों की इस तरह के कार्यों में मौन सहमति है या अपने साथियों के बारे में कोई कार्यवाही करने का नैतिक साहस नहीं है।

नित नये स्थापित होने वाले अनियन्त्रित तथा कथित नर्सिंग होम ने भी इस वातावरण को दूषित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। नर्सिंग होम नामक बीमारी अब तो ग्रामीण क्षेत्रों में भी फैल चुकी है। चूंकि नर्सिंग होम की स्थापना पर काफी व्यय होता है उसे ब्याज सहित कम समय में वसूलने के प्रयासों ने भी चिकित्सा जगत के बदनामी के क्षेत्र को विस्तारित किया है। निजी क्षेत्र में संचालित चिकित्सालय ट्रस्ट या इस प्रकार की संस्थाएं संचालित कर रही हैं जिनका नियन्त्रण केवल व्यवसायी वर्ग के हाथों में है। संस्थाओं की स्थापना के पश्चात चलाने का खर्च बीमारों से ये आदर्शवादी, समाजसेवी, सेवाभावी वर्ग खींचने के नये-नये तरीके- अपनाते हैं। स्वाभाविक रूप से बीमार की कमर ही टूट जाती है। इससे भी बदनामी का श्रेय संस्था

में कार्यरत चिकित्सक वर्ग को वहन करना पड़ता है जिसमें उनका दोष नहीं के बराबर है। हां, यह अवश्य है कि इन संस्थाओं में कार्य करने के लिये स्थान पाने के लिये चिकित्सक वर्ग अपने आत्म सम्मान की ओर ध्यान न देकर इन तथाकथित समाज-सेवियों के आगे पीछे घूमकर अपनी प्रतिष्ठा कम करते हैं।

वैसे तो ईर्ष्या एवं प्रतिस्पर्द्धा एक मानवीय दोष है। इसकी मात्रा चिकित्सा वर्ग में अप्रत्याशित है। अपने ही साथियों की साख गिराकर आगे निकलने का कार्य करने में चिकित्सकों ने विशेषज्ञता अर्जित की है जिसका सार्वजनिक प्रदर्शन भी कराया जाता है। शासकीय सेवा में स्थानान्तर, पदोन्नती तथा विशेष स्थान पर पद स्थापना के लिये प्रतिस्पर्द्धा इस वर्ग में सर्वाधिक है। इस कार्य के लिये प्रशासनिक अधिकारियों तथा राजनेताओं को रिश्वत भी दी जाती है- यह भी आम चर्चा का विषय है। इस प्रकार के अनैतिक कार्य केवल निजी प्रैक्टिस के लिये किये जाते हैं जिस पर कई प्रदेशों की सरकारों ने प्रतिबंध भी लगाया किन्तु निराशाजनक नतीजे ही मिले हैं। मध्यप्रदेश उसका ज्वलन्त उदाहरण है।

यहाँ यह भी कहना सामयिक होगा कि अपने कार्य में दक्ष चिकित्सक प्रशासनिक कार्य (जिम्मेदारी) से दूर ही रहना चाहते हैं ताकि उनकी स्वच्छ छवि बनी रहे नतीजतन प्रशासनिक पद कम दक्षता वाले व्यक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसके लिये कीमत भी चुका देते हैं। अन्ततः इस क्षेत्र की विकृतियों में वृद्धि तो होना ही है, जो आज हम देख रहे हैं।

चिकित्सा शिक्षा के गिरते हुए स्तर ने न केवल चिकित्सा महाविद्यालयों के छात्रों के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लगाया है अपितु उनके अभिभावकों को परेशान भी किया। आज के चिकित्सा महाविद्यालयीन छात्रों का बौद्धिक स्तर उच्च स्तरीय है। इसके बाद भी उनकी शिक्षाकी दुर्गति एवं शोषण अवर्णनीय एवं चिन्ता का विषय है। इस सर्वोत्कृष्ट क्षमतावान बुद्धिजीवी वर्ग के उचित शिक्षा, प्रशिक्षण एवं शोषण मुक्त वातावरण की व्यवस्था, आज की महती आवश्यकता है। चिकित्सा शिक्षा छात्रों से सीधा संवाद स्थापित किया जावे तो न केवल चिकित्सा शिक्षा में गुणात्मक सुधार हो सकेगा वरन चिकित्सा व्यवस्था में सुधार के भी सुझाव मिल सकेंगे। यह सब एक प्रबल राजनीतिक इच्छा शक्ति द्वारा ही संभव है जो दूर-दूर तक दिखाई नहीं दे रही है। प्रशासनिक तंत्र तो केवल व्यवस्था बिगाड़ कर तमाशा देखने के लिये ही है, यदि ऐसा कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

निजी क्षेत्र में चिकित्सा शिक्षा के विस्तार ने अव्यवस्थित व्यवस्था को अधिक अव्यवस्थित एवं भ्रष्ट बनाने में समर्थन दिया है। चिकित्सा शिक्षा संस्थाओं की लंबी कतारें खड़ी

कर दी गई हैं जिनके पास न शिक्षक है न शैक्षणिक सामग्री। अपने लोगों को केपीटेशन शुल्क के माध्यम से लूट की खुली छूट राजनेताओं ने दी है। इस प्रकार संस्थाओं से बाहर आने वाले चिकित्सकों का एक तरफ तो अधिक धन खर्च होता है, दूसरी तरफ बगैर योग्यता वाले छात्र चिकित्सक बनाये जाते हैं जिनका ध्येय केवल व्यय किया गया खर्च वसूलना ही रहता है। ऐसे में चिकित्सा जगत की प्रतिष्ठा कैसे कायम रह सकती है। खेद है कि न तो जनता ने न ही चिकित्सकों ने इसका विरोध किया है।

इस व्यवस्था को सुधारने के लिये उपाय किये जाना आवश्यक हो गया है। उदाहरणार्थ:-

(१) इस तरह की विकृतियों से मुक्ति पाने का प्रयास उपभोक्ता कानून की स्थापना से करने का प्रयास किया गया। उच्च न्यायालय के आदेश से 1995 में स्वास्थ्य सेवाओं को भी इस कानून के अन्तर्गत लाया गया। चिकित्सा जगत के विरोध के बावजूद यह स्थापित सत्य है कि चिकित्सा जगत पर नियन्त्रण आवश्यक है। अतः उनसे विचार-विमर्श के पश्चात इस कानून में जो भी संशोधन आवश्यक हो किये जाएं।

(2) चिकित्सा आयोग - आज के चिकित्सा वर्ग के प्रति समाज की सहानुभूति नहीं है किन्तु यह भी सत्य है कि चिकित्सा समुदाय की भी कठिनाइयाँ हैं। जिनकी ओर आज के दूषित वातावरण के कारण समाज के किसी भी वर्ग का ध्यान आकर्षित नहीं हो पाया। इस स्थिति के सुधार के लिये आवश्यक है कि एक चिकित्सा आयोग गठित किया जाए- जिसका क्षेत्र व्यापक हो। प्रस्तावित आयोग पूरी स्थिति का यथार्थवादी आकलन करे। आयोग के विचारार्थ बिन्दु भी दिये जाएं (टर्म्स ऑफ रेफरेन्स), मेरे मत में आयोग को राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम (आज 16 प्रकार के कार्यक्रम कार्यरत हैं) जिनकी सफलता केवल कागजी तथा आंकड़ों तक सीमित है, प्रिवेन्टिव मेडिसीन जो कि चिकित्सा शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग होते हुए भी उपेक्षित है, अखिल भारतीय चिकित्सा सेवा (इंडियन मेडिकल सर्विस) का गठन, मेडिकल कौन्सिल ऑफ इंडिया के संविधान में आमूल परिवर्तन तथा चिकित्सा महाविद्यालय का नियंत्रण तथा संचालन विश्वविद्यालय या इस जैसी संस्था द्वारा किये जाने पर विचार निजी प्रैक्टिस की स्वतंत्रता तथा अन्य इसी प्रकार के बिन्दुओं पर गहन विचारार्थ दिये जाएं। चिकित्सा आयोग अपने स्तर पर चिकित्सीय क्षेत्र से जुड़ी हुई विकृतियों पर भी विचारार्थ हेतु स्वतंत्र रहेगा। खेद है कि आज तक चिकित्सा क्षेत्र की कमियों को उजागर तो किया गया किन्तु सुधार के लिये किसी भी कल्याणकारी सरकार ने कोई भी कदम नहीं उठाया- इस दिशा में चिकित्सा आयोग का गठन एक महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी जो एक तरफ चिकित्सा के क्षेत्र में आई विकृतियों को दूर करने के सुझाव प्रस्तुत करेगा- दूसरी ओर चिकित्सकों की कठिनाइयों को दूर करने के सुझाव भी।

चिकित्सा आयोग की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि उसके द्वारा सुझाये गये प्रस्तावों पर धूल जमती है या क्रियान्वयन में सरकार रुचि लेकर न्यूनतम समय में कार्यान्वित करती है- यह भविष्य के गर्भ में छिपा है ।

नेत्र शल्य चिकित्सा एवं लैसर प्रणाली

अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक जगत में वैज्ञानिकों, शोधकर्ताओं तथा चिकित्सकों के सामूहिक एवं समन्वित प्रयासों के कारण चिकित्सा के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रत्याशित प्रगति हुई है। नेत्र चिकित्सा एवं नेत्र शल्य चिकित्सा जगत भी वैज्ञानिक शोध से अछूता नहीं रहा है। चिकित्सा की नई-नई प्रणालियाँ विकसित हुई हैं, बीमारियों पर नियंत्रण के लिए नित नए शोध सामने आ रहे हैं। नेत्र चिकित्सा के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है, उसे सहज में ही क्रांतिकारी माना जा सकता है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि प्राकृतिक विपदाओं एवं कठिनाइयों के वक्त ऐसे तथ्य सामने आ जाते हैं जो उस अभिशाप को भविष्य में वरदान में परिवर्तित कर देते हैं। लैसर चिकित्सा प्रणाली के संबंध में भी यह तथ्य पूरी तरह खरा उतरता है। इस संदर्भ में एक ऐतिहासिक तथ्य उद्धृत करने योग्य है। जर्मनी में 10 जुलाई 1945 को एक सूर्य-ग्रहण देखा गया जिसे हजारों लोगों ने नग्न आँखों से या सीधे देखा, जिसके कुप्रभाव से कई लोग या तो दृष्टिहीन हो गये या आजीवन दृष्टि दोष के शिकार हुए। वैसे यह तथ्य स्थापित व सर्वमान्य है कि सूर्य के विकिरण का प्रभाव आँखों पर पड़ता है। यह तथ्य 1945 के सूर्यग्रहण से प्रमाणित हो गया। वैसे सर्वप्रथम सॉक्रेटिस ने ही यह तथ्य उजागर किया था कि ग्रहण को नग्न आँखों से नहीं देखना चाहिए वरन् उसका प्रतिबिम्ब पानी में देखना चाहिए ताकि आँख पर कुप्रभाव न पड़े जैसा जर्मनी में हुआ था। इससे ऐसी विपदाओं को दूर करने के लिए और मानव जाति के कल्याण हेतु नेत्र चिकित्सकों के मन में जिज्ञासा जागृत हुई। एक महान नेत्र चिकित्सक, जो अपने युग के श्रेष्ठ रेटिनल शल्य चिकित्सक के रूप में स्थापित थे, मैयर श्वकरेथ ने एक मशीन बनाने के विचार को क्रियान्वित करने का प्रयास प्रारंभ किया। इस मशीन द्वारा इस चिकित्सक ने आँख के पर्दे के ऊपर तेज रोशनी से एक चिन्ह बनने का प्रदर्शन किया और इस सिद्धान्त की पुष्टि करने हेतु एक मशीन का आविष्कार किया, जो कि वैज्ञानिक भाषा में “जैनन आर्क फोटो कोग्यूलेटर” के नाम से जानी जाती है।

लैसर चिकित्सा प्रणाली का प्रारंभ उपरोक्त मशीन के बाद ही संभव हो सका। इस तरह अन्य वैज्ञानिकों का ध्यान भी इस ओर गया और नेत्र चिकित्सकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की मशीनें बनाने में सफलता हासिल की। उदाहरण के लिये 1960 में मेमन ने रूबी फोटो कोग्यूलेटर का निर्माण किया, 1965 में आर्गन लैसर फोटो कोग्यूलेटर का आविष्कार हुआ जिसका व्यावसायिक उपयोग 1971 में शुरू हुआ। हॉल ही में यॉग लैसर एवं कार्बन डाइ-ऑक्साइड लैसर के आविष्कार से नेत्र चिकित्सक सुपरिचित हैं। शोध की प्रक्रिया अनवरत जारी रही और इसी शृंखला में रेड क्रिप्टन व येलो क्रिप्टन लैसर भी उपलब्ध हो गए हैं।

वर्तमान में नेत्र चिकित्सकों के पास सात प्रकार के लैसर उपकरण उपलब्ध है:-

1. जैनन आर्क, 2. रूबी लैसर, 3. आर्गन लैसर, 4. रेड क्रिप्टन लैसर, 5. येलो क्रिप्टन लैसर, 6. डॉय लैसर, 7. कार्बन डॉय ऑक्साइड ।

पिछले वर्षों में एक और अन्य लैसर प्रणाली का विकास हुआ है जो कि एक विशिष्ट कार्य हेतु उपयोग में लायी जाती है- इक्साईमर लैसर । नेत्र चिकित्सक के लिए यह अत्यन्त ही उत्साहवर्द्धक तथ्य है कि आज विविध प्रकार की लैसर प्रणालियां उपलब्ध हैं । वैसे प्रत्येक लैसर प्रणाली का अपना महत्व है, परन्तु आर्गन लैसर प्रणाली सर्वाधिक उपयोगी एवं सार्थक है । इसमें अपेक्षाकृत कम कमियाँ हैं और उपयोग भी सर्वाधिक है ।

उपयोग : लैसर चिकित्सा प्रणाली का उपयोग अनेक प्रकार के नेत्र रोगों के लिए किया जाता है लेकिन विशेष रूप से मधुमेह या शक्कर की बीमारी में इसका उपयोग किया जाता है । मधुमेह की वजह से आँख के पर्दे (रेटिना) पर कुप्रभाव पड़ता है और इस कुप्रभाव को दृष्टिपटल मधुमेह (डाइबिटिक रेटिनोपेथी) कहा जाता है । इस नेत्र रोग में जिसका मूल कारण 'मधुमेह' रोग है से न केवल नेत्र ज्योति क्षीण होती जाती है, परन्तु आज के आपाधापी के युग में अंधत्व का एक प्रमुख कारण है ।

मधुमेह के वो रोगी जो लगभग दस वर्षों से अधिक समय से इस रोग से ग्रसित होते हैं, उनमें दृष्टिपटलीय मधुमेह का रोग होने की संभावनाएं ज्यादा रहती हैं । इसमें लम्बे समय तक रोग होना ज्यादा बड़ा कारण होता है बनिस्वत मधुमेह के प्रतिशत के । आज के युग में तो मधुमेह रोग के नए-नए उपचार उपलब्ध हैं, जिसकी वजह से औसत आयु में इजाफा हुआ है । इसी वजह से दृष्टिपटलीय मधुमेह के नियंत्रण में भी कारगर नतीजे सामने आये हैं । दूसरी ओर औसत आयु में वृद्धि के कारण दृष्टिपटलीय मधुमेह के मरीज भी अधिक संख्या में होने लगे हैं ।

वैसे तो आँख के पर्दे के कुप्रभाव को हम दृष्टिपटलीय मधुमेह (डायबिटिक रेटिनोपेथी) कहते हैं परन्तु विवेचना की दृष्टि से इसे तीन भागों में बांटा जा सकता है:-

1. पार्श्व मधुमेह धब्बे ।
2. दृष्टिपटलीय मधुमेह में बढ़ोतरी ।
3. नव संवहन पण्णांग पत्र ।

मधुमेह से प्रभावित आँख के पर्दे (रेटिना) पर खून उतर आता है, धब्बे आ जाते

हैं और खून की नई-नई नलिकाएं बन जाती हैं। रेटिना का मध्य भाग “मेक्युला” के प्रभावित होने से नेत्र ज्योति अत्यधिक कम हो जाती है। लैसर द्वारा ही इसका उपचार संभव है। लैसर से नई खून की नलिकाएं नष्ट कर दी जाती हैं ताकि नई नलिकाएं बनना बंद हों, खून भी न उतरे तथा पर्दे की सूजन तथा धब्बे भी कम हो जाएं। इस चिकित्सा प्रणाली से आंख के पर्दे पर 800-3000 स्पाट्स लगाये जाते हैं जिसमें अधिक से अधिक 6 दिन का समय लग सकता है।

मधुमेह की बीमारी द्वारा प्रभावित आंख के पर्दे के लैसर के उपचार के बाद नेत्र ज्योति में कमी को रोका जा सकता है, इससे अंधत्व की रुकावट संभव है। आंख के पर्दे की एक और बीमारी जो कि थ्राम्बोसिस ऑफ सेन्ट्रल रेटिनलव्हेन के नाम से जानी जाती है, इस बीमारी में खून की नलिकाओं में रुकावट आ जाती है और आंख के पर्दे पर खून उतर जाता है। इसके कारण नई-नई खून की नलिकाएं बनती हैं और एक विशेष प्रकार का काँचबिन्द (निओ व्हेस्कुलर ग्लाकोमा) हो सकता है।

इसके अलावा आंख के एक और भाग टीशु आईरिस के ऊपर नई-नई खून की नलिकाएं बन जाती हैं जो कि “रूबियोसिस” आइराइडीस के नाम से पहचानी जाती हैं। उचित उपचार के अभाव में अंधत्व का कारण बन जाता है। आंख के पर्दे-रेटिना की अन्य बीमारियों जैसे सरसीनेट रेटिनोपेथी एवं व्हान हिप्पल लिडांस डिसिज का उपचार भी लैसर पद्धति से संभव है।

ग्लाकोमा-काँचबिन्द कालामोतिया या काला पानी के नाम से जानी जाने वाली बीमारी में आंख का दबाव बढ़ जाता है। सामान्य आंख में वह दबाव 18-25 मी.मी. ऑफ मरक्युरी होता है। यदि यह दबाव कम न किया जाए तो नजर की नस ऑप्टिक नर्व जो आंख को मस्तिष्क से जोड़ती है, सूख जाती है, और अंधत्व का कारण बन जाती है। इस बीमारी का उपचार लैसर द्वारा संभव है। इस बीमारी के लिये लैसर द्वारा दो प्रकार की शल्य प्रक्रिया संभव है- (1) ट्रेबीक्यूलोप्लास्टी एवं (2) ट्रीफाइनेशन। एक अन्य प्रकार का काँचबिन्द जो कि इनट्रेक्टेबल ग्लाकोमा के नाम से पहचाना जाता है- इसका इलाज भी लैसर द्वारा सफलतापूर्वक होता है- अन्य प्रकार के इलाज इसमें सफल कम ही हो पाते हैं।

किंसी बीमारी से यदि आंख की पुतली बंद हो जावे जिसे ऑक्ल्यूंसिओ प्यूपिली कहते हैं- इस स्थिति में आंख में प्रकाश की किरणें नहीं जा पातीं, वह व्यक्ति ज्योति विहीन हो जाता है। इस स्थिति में नई पुतली बनाकर नेत्र ज्योति वापिस लौटाई जा सकती है- आइराडाटामी के नाम से जानी जाने वाली यह शल्य चिकित्सा भी लैसर से संभव है।

सौभाग्य से आँख के कैंसर बहुत ही कम होते हैं। बच्चों में एक विशेष प्रकार का कैंसर रोग रेटिनोब्लास्टोमा होता है। 25 प्रतिशत मरीजों में दोनों आँखें प्रभावित होती हैं। प्रारंभिक अवस्था में इस गठान को लैसर द्वारा जलाया जा सकता है किन्तु दुर्भाग्य है कि इसकी जानकारी प्रारंभिक अवस्था में मिल ही नहीं पाती अतः इस बीमारी में लैसर का उपयोग लगभग होता ही नहीं। कई अन्य बीमारियों जैसे इल्स डिजीज, सिकल सेलरोग, थेलीसीमिया, रक्त कैंसर, पॉलीसायथीमिया, सारकाइडोसिस डिस्प्रोटीनीमिया कोटस डिजीज, प्रिरेटिनलस्कार, दृष्टिपटल (रेटिना) में छेद तथा रेटिना की गिरती हालत, कांच बिंद, दृष्टि पटल पर अवांछनीय गठान आदि की अवस्था में लैसर द्वारा उपचार कारगर होता है।

चूँकि लैसर चिकित्सा प्रणाली पर नियमित चर्चा होती रहती है, इसलिए प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या मोतियाबिन्द का इलाज भी लैसर से किया जा सकता है:- मोतियाबिन्द का इलाज तो, लैसर से नहीं हो सकता, परन्तु वर्तमान चिकित्सा प्रणाली के द्वारा जो मोतियाबिन्द का इलाज किया जाता है उससे उत्पन्न जटिलताओं में योंग लैसर से उपचार सफलतापूर्वक किया जा सकता है, यह जटिलता “आफ्टर केटेरेक्ट” के नाम से जानी जाती है।

जहाँ तक लैसर मशीनों का सवाल है, यह जानना लाभदायक होगा कि ये मशीनें बेहद महंगी व भारी भरकम होती हैं। फिर ये आयातीत होती हैं क्योंकि अभी इस तरह की मशीनें स्वदेश में निर्मित नहीं होती हैं। इस तरह के उपकरणों को खरीदना न तो सारे नेत्र चिकित्सकों के बूते की बात है और न ही आवश्यक है। कीमत को थोड़ी देर के लिये गौण भी मान लें तो भी इसके उपयोग में कुशलता हासिल करने के लिए गहन प्रशिक्षण की जरूरत होती है जो प्रत्येक नेत्र चिकित्सक को उपलब्ध नहीं हो पाता। यदि इसके उपयोग में थोड़ी सी भी चूक हो जाए तो लाभ के स्थान पर हानि संभव है।

लैसर प्रणाली के बारे में यह जान लेना भी जरूरी है कि इस प्रणाली से उपचार के बारे में यह मानकर नहीं चलना चाहिये कि कोई जटिलताएं न होंगी। समस्याएं पैदा हो सकती हैं। इन गंभीर समस्याओं में आँख के विशिष्ट भाग का जलना (फोव्हीअलर्बन), दृष्टिपटलीय तन्तु शोध (फाइब्रोसिस), आँख के एक खास भाग का पृथक्करण (कोरायडल-डिटेचमेन्ट), दृष्टिपटल में छिद्र (रेटिनल होल) शुमार हैं। नजदीक देखने में कठिनाई, पुतली में खराबी, कार्निया, आइरिस तथा लैस के जलने की संभावना इत्यादि।

यहां यह जानना भी उपयुक्त होगा कि आँखों की कुछ विशेष स्थिति में लैसर प्रणाली का उपयोग करना संभव नहीं है जैसे:-

(1) ओपोसीटीज इन आक्यूलर मिडिया (2) इलीवेटेड न्यू व्हेसल्स (3) व्हाइट बैक ग्राउण्ड मिडिया, (4) फायब्रस टीशु एवं रेटिनल ट्रेक्शन (5) रेटिनल डिटेचमेंट (6) प्रोग्रेसिव व्हीट्रीओ रेटिनल ट्रेक्शन ।

यद्यपि लैसर प्रणाली के उपयोग सीमित हैं फिर भी रेटिना से संबंधित रोगों में इसकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता । वर्तमान में तो इसका कोई विकल्प सामने नहीं है । इसलिए नेत्र रोगों में इसकी उपयोगिता रामबाण की तरह है । इस क्षेत्र में प्रशिक्षित कुशल चिकित्सक के हाथों इसका उपयोग कारगर ढंग से हो सकता है ।

नजर अन्दाज न करें आंखों की लाली को

आंखों की लाली अनेक नेत्र रोगों का लक्षण है। जिस तरह लाल रंग या लाल झंडी देखकर हम चौकन्ने हो जाते हैं, उसी तरह आंखें देखकर हमें तुरन्त जागरूक हो जाना चाहिये। एक आम भारतीय आंखों की लाली के प्रति गंभीर उदासीनता का परिचय देता है और यह हमारी सहज प्रवृत्ति है कि जब तक रोग बढ़ न जाए हम उसके उपचार के बारे में नहीं सोचते। परिणाम यह होता है कि उपचार के अभाव में लम्बे समय तक आंखों की लाली अंधत्व की हद तक भी जा सकती है। नेत्र चिकित्सा के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एवं भारत में शोध जारी है व शासकीय एवं अशासकीय स्तरों पर प्रयास हो रहे हैं ताकि नेत्र रोगों को काबू में किया जाए परन्तु आम आदमी के लिए नेत्र रोगों की जानकारी का अभाव और दूसरी ओर गरीबी की वजह से नेत्र रोगों के नियंत्रण एवं उन्हें समूल नष्ट करने में अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाई है। आंखों की लाली को साधारण रोग समझकर या तो हम इसका उपचार नहीं करते या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस रोग को बढ़ाने में मदद करते हैं। लाल आंखों को हम खतरा नहीं मानते हैं और इस धारणा को पल्लवित व पोषित करते हैं कि लाली कोई बीमारी नहीं है। असल में लाल आंखें ही बीमारी की जननी हैं और बेहद खतरनाक नेत्र रोगों का लक्षण हैं। सारे लक्षणों को समझकर और नेत्रों का बारीकी से परीक्षण करने के पश्चात रोग का निदान ढूंढा जाए तो किसी संतोषजनक उपचार तक पहुंचना संभव है। धूल, धूप, हवा, रोहे की बीमारी (ट्रेकोमा), आंख का घाव, एलर्जी, कांचबिन्दु, आइरिस एवं अन्य सैकड़ों रोगों की वजह से आंखों में लाली हो सकती है। इन तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए लाल आंखों के कारणों का पता लगाया जा सकता है। आंखों की लाली के कारण को मुख्य रूप से तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है। वे हैं :-

(1) नेत्र रोग

(2) शरीर के अन्य रोग

(3) अशारीरिक लक्षण

इसी वर्गीकरण में तीसरे समूह यानी “अशारीरिक लक्षण” का उल्लेख सबसे पहले जरूरी है क्योंकि इसके निदान की आवश्यकता स्वयं पर ही निर्भर है। इस स्थिति में चिकित्सक द्वारा उपचार किया जाना संभव नहीं है। बगैर किसी बीमारी के आंखों की लाली चार अवस्थाओं में होती है जो कि मानव स्वभाव की ओर इशारा करती है- क्रोध, दुःख, मदिरापान एवं ज्यादा गर्मी में प्रवास या धूप में घूमने से आंखों में लाली आ जाती है। इन स्थितियों पर नियंत्रण करने से आंखों की लाली स्वतः ही समाप्त हो जाएगी और किसी उपचार की आवश्यकता नहीं

होगी। बाकी के दो समूहों में नेत्र रोग पहला है। अनेक नेत्र रोग ऐसे हैं जिनका लक्षण लाल आंखें हैं। लाल आंखों के साथ-साथ अन्य लक्षण भी होते हैं, जिन पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। सारे लक्षणों पर सामान्य रूप से विचार करने पर ही रोग का निदान संभव है। मसलन मदिरापान करने वालों की आंखों में लाली रहती है परन्तु साथ ही कोई नेत्र रोग भी हो जाए तो लाली आंखों के लिए गंभीर खतरा भी बन सकती है। यह जानना उपयोगी होगा कि कोई भी चोट लगने से या यात्रा के दौरान रेलगाड़ी या बस में तेजगति से धूल कण टकराने से घाव हो जाते हैं और नेत्र लालिमा बढ़ जाती है। घबराहट में आंखों को रगड़ लेने से लाली और बढ़ जाती है और घाव भी बढ़ जाता है। इसी तरह कांचबिन्दु में भी लाली होती है। कन्जक्टिवाइटिस यानी लाल आंखों की बीमारी एक आम बीमारी है जिसमें आंखें बेहद लाल हो जाती हैं और समय पर उपचार न होने से धुंधलापन और यहां तक कि अंधत्व भी संभव है। आंख के काले भाग (कार्निया) में जखम भी लाल आंखों के लिए जिम्मेदार हो सकता है। आंखों की लाली का उपचार करने के पूर्व यह बेहद जरूरी है कि उपरोक्त रोगों की अलग-अलग पहचान कर विश्लेषण किया जाए।

(1) कंजक्टिवाइटिस :- आम आदमी की भाषा में इसे आंख आने की बीमारी या लाल आंखों वाली बीमारी के नाम से जाना जाता है। मोटे तौर पर यह बीमारी दो प्रकार की होती है :-

(1) संक्रामक (इन्फेक्टिव), (2) प्रत्यर्जता (एलर्जी)

आंख आने की बीमारी किसी भी आयु में हो सकती है और चूंकि शिशु व बच्चे अधिक संवेदनशील होते हैं इसलिए संक्रामक लाल आंखों की बीमारी से सभी को सावधान रहना चाहिये। यह बीमारी बैक्टेरिया, वायरस एवं फंगस के माध्यम से फैलती है। धूप, धूल, धुंआ, अन्य के बिस्तर, तौलिया आदि का उपयोग, गंदे पानी से नहाना, दूसरों के धूप का या नजर के चश्मे का उपयोग करना यहां तक कि बीमार व्यक्ति से हाथ मिलाने से भी हो जाती है। कभी-कभी पीड़ित व्यक्ति की आंख की ओर देखने से भी इन्फेक्शन हो जाता है। इस बीमारी में लाली के साथ-साथ आंखों में पानी, कीचड़ आना, पलकों का चिपकना, जलन, खुजली व साधारण और गंभीर किस्म का तेज दर्द भी संभव है। आंखों में कांटों जैसी चुभन भी होती है। प्रारंभिक अवस्था में ही नेत्र ज्योति पर कुप्रभाव नहीं पड़ता है। यदि लाल आंखों के साथ एलर्जी भी हो तो आंखों में खुजली चलने की शिकायतें भी होती हैं। समय पर उपयुक्त उपचार करने से इस नेत्र रोग पर पूर्ण रूप से नियंत्रण पाया जा सकता है। यदि ठीक उपचार न हो तो दृष्टि दोष और यहां तक कि अंधत्व भी हो सकता है। आंखें आने पर स्वेच्छा से चिकित्सा न करें। आंख में फिटकरी, रंग या अन्य कोई वस्तु न डालें। इस बीमारी में पट्टी बांधना वर्जित

है, रोगी को गहरे रंग का चश्मा पहनने को दिया जा सकता है। बीमारी के रूप 20 प्रकार के होते हैं। औषधियाँ चिकित्सक के मशविरे के आधार पर ही लेना चाहिए।

(2) काली पुतली (कार्निया) का घाव :- आंख में जो काला चमकदार भाग रहता है उसे कार्निया या काली पुतली के नाम से पहचाना जाता है। यह पारदर्शी होता है। काली पुतलियों की बीमारियाँ भी कम नहीं हैं, पर आमतौर पर इसमें अल्सर या घाव की शिकायत प्रमुखता से देखने में आती है। अल्सर 18 प्रकार के हो सकते हैं। कार्निया में घाव के लिए तीन स्थितियाँ जवाबदार हैं। पहला चोट लगने से काली पुतली में घाव हो सकता है। दूसरा किसी बीमारी की वजह से या लम्बे समय तक लाली की वजह से भी घाव हो सकता है। प्रतिरोधात्मक शक्ति की कमी की वजह से भी घाव हो जाना तीसरा कारण है। संभव है कि शिशु अवस्था में और विटामिन “ए” की कमी से भी इस तरह की व्याधि हो सकती है। कार्निया के अल्सर में आंखों की लाली के साथ-साथ आंखों से सतत रूप से पानी आता रहता है, प्रकाश की तरफ देखने में कठिनाई होती है। दिन के बजाय रात्रि में तकलीफ कम होती है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बीमारी अच्छी हो गई है। उपयुक्त इलाज के अभाव में अल्सर फूट सकता है और ज्योति हमेशा के लिए जा सकती है।

(3) परितारिका की लाली (आइरीडोसाइल्किटीज) :- यह भी लाल आंखों की एक बीमारी है जिसमें अंदर आइरीस में विभिन्न कारणों से सूजन आ जाती है। परिणामस्वरूप आंखें लाल रहती हैं। आंखों से पानी आता है, आंखों में अच्छा खासा दर्द रहता है। पलकों में सूजन रहती है और शनैः-शनैः नेत्र ज्योति क्षीण होती जाती है। गहन परीक्षण से इस रोग का पता लगाया जा सकता है क्योंकि सतही तौर पर ऐसे ही लक्षण अन्य नेत्र रोगों में पाये जाते हैं। पर्याप्त जानकारी के अभाव में इस रोग को कांचबिन्दु मानकर उपचार कर दिया जाता है और कभी-कभी गैर जरूरी शल्य चिकित्सा भी कर दी जाती है। कुशल नेत्र चिकित्सक की राय में यह रोग भी अहमियत रखता है।

(4) कांच बिन्दु (ग्लाकोमा) :- कांचबिन्दु भी एक प्रमुख नेत्र रोग है। इसे काला मोतिया या काला पानी के नाम से भी जाना जाता है। इस नेत्र रोग के लक्षण 40 वर्ष की आयु के आस-पास या इससे अधिक उम्र के लोगों में पाए जाते हैं। कांचबिन्दु तीन प्रकार के होते हैं। सबसे पहला कांचबिन्दु जन्मजात होता है। दूसरा साधारण कांचबिन्दु होता है और तीसरा संकुलित कांच बिन्दु है। यह तीसरा कांचबिन्दु जो संकुलित (कन्जस्टेड) कहलाता है, उसमें आंखों की लाली ज्यादा रहती है। वैसे तो यह बीमारी पुरुष एवं महिलाओं दोनों को होती है परन्तु अपेक्षाकृत यह रोग महिलाओं में ज्यादा होता है। कांचबिन्दु में आंखों की लाली के अलावा पानी आना, आंख में असहनीय दर्द, पलकों में सूजन आम शिकायत रहती है और

अप्रत्याशित रूप से नेत्र ज्योति में कमी आती है। नेत्र चिकित्सक विशेष उपकरणों द्वारा इसका निदान करते हैं। इसमें आंखों का दबाव (पेशर) बढ़ जाता है जिसमें दर्द में और इजाफा हो जाता है। इसमें तत्काल नेत्र चिकित्सक की सहायता लेना जरूरी है जिससे नेत्र ज्योति को बचाया जा सके।

(5) चोट:- आंख लाल होने के अनेक कारणों में से एक प्रमुख कारण चोट लगना भी है। बच्चों में नुकीले खिलौने, पटाखे, गुल्ली से भी चोट लगने का खतरा बना रहता है। टेनिस, क्रिकेट, फुटबाल व अन्य खेलों के दौरान चोट लग सकती है। उद्योगों में लोहे के कण या रसायन द्वारा चोट प्रयोगशालाओं में भी लग सकती है। रसायन द्वारा लगी चोट अत्यधिक गंभीर होती है। किसी भी प्रकार की चोट से आंखे लाल होना स्वाभाविक है। चोट की अवस्था में तुरंत उपचार की व्यवस्था करना चाहिये क्योंकि लाल आंख स्थायी नेत्र विकलांगता में बदल जाती है। आंख को स्वच्छ पानी से धोना लाभदायी हो सकता है परन्तु यह चिकित्सा जांच के लिए पर्याप्त नहीं है। उपरोक्त रोगों के अलावा कई प्रकार के अन्य शारीरिक रोग हैं जिनमें आंखें लाल हो जाती हैं, किन्तु यह लाली नेत्र रोगों की लाली से भिन्न होती है। इन शारीरिक रोगों में लाल आंखे, उनमें खून उतर आने के कारण होती हैं। अतः किसी प्रकार की लाली से यह निष्कर्ष निकलता है कि आप किसी शारीरिक रोग से ग्रस्त हैं। इसे चेतावनी मानकर आपसे अपेक्षा की जाती है कि चिकित्सक से परामर्श करें ताकि शारीरिक रोग के बारे में पता लगे और उसका उपचार हो जाए, समय पर उपचार तथा संबंधित रोग पर काबू होने से आंख में आया हुआ खून स्वतः ही समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार के शारीरिक रोग जिनमें आंख लाल होती है- उच्च रक्तचाप, खून से संबंधित रोग, मधुमेह, खांसी आदि विशेषकर बच्चों में कुकुर खांसी इसके अलावा छाती या गर्दन पर अधिक दबाव भी इस प्रकार की लाली के कारण है। सिर पर की चोट भी आंख में खून आने से आंखें लाल दिखती है इस प्रकार की आंख में लाली बहुत बड़ा खतरा है जिसका समय पर उपचार किया जाना जरूरी है। इस तरह आंखों की लाली को साधारण न मानकर एक चेतावनी के रूप में देखना चाहिये। इससे नेत्र को संबंधित क्षति से बचाया जा सकता है। आंख मानव शरीर का द्वार है और उसके माध्यम से केवल शरीर में ही नहीं मस्तिष्क में भी झांककर देखा जा सकता है। फण्डस्कोपी के जरिये नेत्र विशेषज्ञ मानव मस्तिष्क की स्थिति का पता लगा सकते हैं, गुर्दे की बीमारी, रक्तचाप, मधुमेह अन्य बीमारियों का निदान भी कई बार आंख के पर्दे की जांच से किया जा सकता है।

आंखों की संजीवनी हैं विटामिन

मानव शरीर के विभिन्न अंगों के सामान्य कार्यों को करने के लिये विटामिन्स की जरूरत पड़ती है। विभिन्न अंगों एवं प्रत्यंगों को आवश्यक ऊर्जा खून की नसों द्वारा प्राप्त होती है। यह बात आंख पर भी लागू होती है, किन्तु आंख में कुछ ऐसे ऊतक (टिशू) होते हैं जिनमें खून की नसें नहीं होतीं, फिर भी उन्हें आवश्यक ऊर्जा मिलती रहती है। यही नहीं इन ऊतकों में यदि खून की नलिकाएं आ जाएं तो उनके गुण-धर्म समाप्त हो जाते हैं और यह स्थिति दृष्टिहीनता का कारण भी बन सकती है।

आंख में इस प्रकार के तीन ऊतक हैं- कार्निया, लेंस व आंख के अंदर का तरल पदार्थ जो व्हीट्रीयस के नाम से जाना जाता है। ये तीनों शीशे के समान पारदर्शी होते हैं। इनकी पारदर्शिता का एक कारण एव्हाक्युलेरिटी है। ये तीनों ऊतक आंतरिक चयापचय (मेटाबॉलिज्म) के जरिये ऊर्जा प्राप्त करते हैं। आंख के इन ऊतकों व अन्य ऊतकों के लिए विटामिन बी आवश्यक है। समय-समय पर विटामिन की कमी और उसकी वजह से आंख पर होने वाले कुप्रभाव की चर्चा होती रहती है।

ऐसा देखा जाता है कि विटामिन 'ए' जो आंखों के लिए लाभकारी माना जाता है, इसकी कमी कम आयु के बच्चों में होती है। आयु बढ़ने पर इसका कुप्रभाव कम हो जाता है। बड़ी आयु के लोग भी इसकी कमी से ग्रस्त हो सकते हैं। मौसम की दृष्टि से ग्रीष्मकाल में विटामिन की कमी अपेक्षाकृत ज्यादा होती है। बच्चों में मौसमी दस्त व खसरे की बीमारी के कारण विटामिन की कमी आ जाती है और विटामिन पूर्णतया शरीर में विलीन नहीं होते। विटामिन 'ए' के अतिरिक्त अन्य विटामिन्स डी, के, सी, बी की आवश्यकताओं को कम नहीं आंका जा सकता। सारे विटामिन खाद्य पदार्थों में प्रचुरता से पाए जाते हैं।

विटामिन	प्रतिदिन की आवश्यकता	खाद्य पदार्थों में उपलब्धता
ए	3000 यूनिट	मछली, मछली का तेल, अंडे का पीला भाग, दूध-मक्खन, हरी व पीली सब्जी, आम, गाजर, गोभी आदि।
डी	1000 यूनिट	धूप, अंडा, मक्खन, काडलीवर तथा हेलीबट ऑइल।
सी	40 मिलीग्राम	संतरा, नींबू, आंवला, सब्जियाँ आदि।
के	-	-

बी-1 1 मिलीग्राम मटर, पूरा अनाज, आटा ।

बी-2 1 मिलीग्राम

भोजन में विटामिन की लगातार कमी से और पौष्टिक तत्वों के अभाव से दृष्टिदोष व अंधत्व भी हो सकता है । महिला एवं पुरुष वर्ग दोनों ही श्रेणी के शिशुओं पर विटामिन 'ए' की कमी का कुप्रभाव समान रूप से होता है । वैसे प्राकृतिक तौर पर थोड़ी मात्रा में विटामिन 'ए' बच्चों में जन्म से ही उपलब्ध होता है । बच्चे माँ के दूध के माध्यम से विटामिन 'ए' हासिल करते हैं । यदि माँ कुपोषण का शिकार है या गर्भावस्था के दौरान खान-पान की समुचित मात्रा, माँ के पेट में नहीं गई है तो निश्चित ही बच्चे को भी कुपोषण का शिकार होना पड़ता है । यदि स्तनपान कराती माँ के अंदर विटामिन की कमी है तो उसका बच्चे पर असर पड़ना स्वाभाविक है । बोतल द्वारा दिए गए दूध पर निर्भर बच्चे को भी, जबकि विशेषकर उन्हें मलाई या क्रीम या तत्व निकला हुआ दूध या पानी मिला दूध मिलता है, निश्चित ही विटामिन 'ए' पूरी मात्रा में नहीं मिल पाता । इसके अलावा भी अनेक कारण हैं जिनसे शरीर में विटामिन 'ए' पूरी तरह समरस नहीं हो पाता । प्रोटीन पदार्थों की कमी भी विटामिन 'ए' की कमी पैदा करने में सहयोगी होती है । तपेदिक, खसरा, बुखार व अन्य रोग भी विटामिन 'ए' और बाद में आँख को प्रभावित करते हैं, जिससे श्वेत आँख प्ररोह हो जाता है । अन्य रोग भी संभव हैं । इस कमी से रतौंधी, कार्निయా में घाव या अन्य रोग मरीज को घेर लेते हैं ।

उचित उपचार व विशेषज्ञ की सलाह इन परिस्थितियों से निजात पाने में मददगार साबित हो सकती है । चिकित्सक के निर्देशानुसार मुंह से या इंजेक्शन के द्वारा विटामिन 'ए' दिया जाना लाभदायक होता है । इंजेक्शन का प्रयोग तब करना चाहिए जब मुंह से विटामिन 'ए' न दिया जा सके । दवा के रूप में विटामिन 'ए' की एक लाख यूनिट्स होती है । मुंह के द्वारा दिया गया विटामिन सुरक्षित और कारगर होता है । यह मात्रा आयु के अनुसार निश्चित की जा सकती है और आवश्यकता के अनुसार दो लाख यूनिट भी दी जा सकती है । कुछ समय के बाद एक से चार सप्ताह के अंतराल के बाद यह पुनः दिया जा सकता है । इसके बाद चार सप्ताह बाद विटामिन 'ए' देने में सतर्कता की आवश्यकता होती है । विशेषकर गर्भ के प्रारंभिक महीनों में इसका इस्तेमाल नाजुक हो सकता है- तात्पर्य यह नहीं है कि गर्भवती माताओं को यह लेना ही नहीं चाहिए परन्तु जाँचपड़ताल और उचित मात्रा का ध्यान रखना जरूरी है ।

जिन महिलाओं में विटामिन 'ए' की कमी के कारण रतौंधी, बीटाटस, स्पॉट या अन्य रोग हो गया हो, उन्हें एक लाख यूनिट्स प्रतिदिन दो सप्ताह तक दिया जा सकता है । गर्भावस्था के दौरान उचित मात्रा में विटामिन 'ए' प्रतिदिन भी दिया जा सकता है ।

ऐसी व्यवस्था होना चाहिए कि भोजन के माध्यम से करीब-करीब सब विटामिन रोगी को मिलें और विटामिन की कमी न होने पाए। इसमें नियमित उपाय आवश्यक है। इसके लिए ये सुझाव उपयोगी हो सकते हैं-

(1) स्नायु रोग, तपेदिक, पेट के कीड़े, अन्य बीमारियाँ जिनसे शरीर में विटामिन का समरस होना बंद हो जाए से मुक्त वातावरण आवश्यक है।

(2) खसरे के टीके व अन्य रोगों के टीके शिशु विशेषज्ञ की सलाहानुसार बच्चे को लगते रहें।

(3) जिन पदार्थों में विटामिन 'ए' भरपूर हो उनका प्रचुर मात्रा में सेवन करें। प्रोटीन लेते रहें। तुअर की दाल खाएं, इसमें प्रोटीन होता है जिससे शरीर में विटामिन 'ए' को एकत्रित करने की क्षमता बढ़ती है।

(4) विटामिन 'ए' दवा के रूप में लें। बच्चों के लिए ड्राप्स या सिरप और बड़ों के लिए गोलियां सुरक्षित होती हैं।

(5) अन्य दवाइयों की तुलना में विटामिन 'ए' अपेक्षाकृत कम मूल्य का होता है। शासकीय चिकित्सालयों में यह निःशुल्क मिलता है।

विटामिन 'ए' के साथ-साथ अन्य विटामिनों का महत्व भी कम नहीं आंका जा सकता है। विटामिन 'सी' भी महत्वपूर्ण है। इसकी कमी से आंखें प्रभावित होती हैं- विशेष रूप से आंख का पर्दा (रेटिना) और कंजकटायवा के रोग होते हैं। इनकी कमी से आंख के पर्दे और कंजकटायवा में खून भी उतर आता है, कंजकटीवाइटिस भी हो सकता है और स्कर्वी, खून की कमी, ओस्टियोप्लेसिया नाम के खतरनाक रोग भी संभव है। लम्बे समय तक विटामिन 'डी' की कमी से विशेष प्रकार का मोतियाबिन्द भी हो सकता है। इसकी कमी से सूखिया रोग, दंत रोग तथा टीटेनी रोग भी हो सकता है।

विटामिन-बी-1 जो चिकित्सा जगत में थाइमाइन के नाम से जाना जाता है, की कमी से भी आँख के रोग हो जाते हैं, जिनमें दिमाग की नसें सूखने लगती हैं और आंख की नसों में सूजन आ जाती है। इसकी कमी मस्तिष्क रोगों को जन्म देती है। जहां तक विटामिन बी-2 (राइबोफ्लेविन) का सवाल है, इसकी कमी से आंख की पुतली की पारदर्शिता समाप्त हो जाती है, जुबान पर छाले हो जाते हैं और लम्बे समय तक उपचार न होने से अंधत्व हो सकता है।

उपरोक्त किसी भी प्रकार के दोष दिखने पर तुरन्त चिकित्सक से जांच कराना चाहिए। समाज व सरकार के साथ-साथ व्यक्ति की भी जिम्मेदारी है कि वह अपने आस-पास के वातावरण को स्वच्छ रखने में योगदान दें, ताकि रोगों पर नियंत्रण करने में मदद मिल सके।

एड्स से भी होती है दृष्टिहीनता

आज की जीवन शैली एवं पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित भारतवर्ष में भी एड्स नामक बहुचर्चित रोग ने एक महामारी का रूप धारण कर लिया है। इस रोग के बारे में प्रथम बार जानकारी अमेरिका के लास एंजलीस शहर में सन् 1981 में मिली थी। जबकि भारतवर्ष में इस रोग के उद्भव को पहली बार सन् 1986 में देखा गया। भारत वर्ष में एड्स रोग के नेत्र पर होने वाले कुप्रभाव की प्रथम जानकारी सन् 1995 में प्राप्त हुई थी।

एक सर्वेक्षण के अनुसार वर्तमान में एड्स रोग से पीड़ित लोगों की संख्या पूरे विश्व में 2.7 करोड़ है। इसके अतिरिक्त 30 लाख बच्चे भी इस रोग की चपेट में आ चुके हैं। इस संख्या का 58% भाग अफ्रीका तथा एशिया में, 15 प्रतिशत अमेरिका में तथा 4 प्रतिशत पश्चिम यूरोप में है। भारतवर्ष में आज एड्स रोगियों की संख्या 25 लाख है तथा इस शताब्दी के अन्त तक यह संख्या सर्वाधिक हो जाने का अनुमान है।

एकवायर्ड इम्युनो डेफीशेंसी सीन्ड्रोम के नाम से पहचाने जाने वाली यह बीमारी एच.आय.वी. वायरस से होती है जो कि एक रीट्रो वायरस है। सामान्य रूप से एड्स रोग को एक जान लेवा बीमारी माना जाता है जो सत्य भी है - फलस्वरूप इस रोग की भयानकता एवं विकरालता आज हर स्तर पर चर्चा का विषय बन चुका है। इस रोग का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू भी है- एड्स रोगियों की संख्या के 70 प्रतिशत व्यक्तियों के नेत्र इससे प्रभावित होते हैं जो दृष्टिहीनता में परिवर्तित हो जाता है। स्थिति तो यहां तक गंभीर है कि कई बार तो इस बीमारी का प्रथम लक्षण भी नेत्र में ही देखा जा सकता है। इस सबके बावजूद दुर्भाग्यवश एड्स के कारण होने वाले नेत्र रोग के बारे में सामान्य जनमानस को कोई जानकारी नहीं है।

एड्स रोग सामान्यतया 20-40 वर्ष की आयु समुह में, पुरुषों तथा शहरी क्षेत्र के रहवासी वर्ग में, पिछड़े तथा आर्थिक एवं सामाजिक रूप से कमजोर वर्ग तथा कुछ विशेष रूप से व्यवसाय में संलग्न अधिक समय तक यात्रा करने वाले लोगों में अधिक मात्रा में पाया जाता है। आज यह रोग स्वास्थ्य के लिये एक समस्या बन गया है। एच.आय.वी. वायरस द्वारा उत्पन्न की गई इस बीमारी में यौन सम्बन्धों की भूमिका सर्वाधिक है। यह वायरस शरीर में तीन प्रकार से प्रवेश कर सकता है :-

1. समलिंगता/द्विलिंगी : 60% व्यक्तियों में एड्स इस प्रक्रिया से होता है।
2. दूषित खून : खून तथा खून संबंधी तत्व या सीरेंज की दूषित सुई के प्रयोग के

कारण 25-30 प्रतिशत रोगी होते हैं। इस प्रकार की विषमता से इस रोग की 10 प्रतिशत वृद्धि प्रतिवर्ष हो रही है।

3. एड्स रोग से पीड़ित गर्भवती महिला द्वारा :

एड्स रोग से पीड़ित गर्भवती महिला भी गर्भावस्था, प्रसव के समय तथा प्रसव के बाद स्तनपान के माध्यम से इस रोग को अपने ही बच्चे में प्रदत्त करती है।

एड्स रोग दोनों नेत्रों को प्रभावित कर दृष्टिहीनता का एक और कारण बन चुका है। इस तरह होने वाले नेत्र रोगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1. आँख के पिछले भाग याने रेटिना, कोराइड आप्टीकनर्व तथा व्हीट्रीयस के रोग :
1. सी.एम.व्ही. रेटिनाइटिस, 2. कोरीयो रेटिनाइटिस, 3. आप्टीक एट्रोफी, 4. काटनवूल स्पाट्स, 5. रेटिनल डीटेचमेन्ट 6. एन्डआपथेलमाइटिस।

2. आँख के अगले भाग याने आयरीस तथा सीलीयरी बाड़ी के रोग :

1. आयरीडो सायक्लाइटिस

3. आँख के पलक तथा नेत्र की मांस पेशियाँ पर होने वाले रोग :

1. मोलसकम कांटीजीयोसम

2. पलक पर छाले

3. मसल पाल्सी

उपरोक्त वर्णित रोगों में से मुख्यतः आँख के पिछले भाग तथा अगले भाग को प्रभावित करने वाली बीमारियाँ नेत्र ज्योति को प्रभावित कर अन्ततः दृष्टिहीनता का कारण बन जाती है। एड्स रोगियों में अन्य कई बीमारियाँ भी बाहुल्यता के साथ देखी जाती हैं जिनमें प्रमुख है क्षय रोग 50%, ओरोफेरीएन्जीयल केनडीडायासीस, सिफलिस, टाक्सोप्लासमोसिस, क्रिप्टो कोकोसीस तथा बैक्टीरियल इन्फेक्शन। एड्स के रोगी में उपरोक्त रोग होने की स्थिति में नेत्र रोगों का प्रतिशत अधिक होता है।

उपचार : एड्स रोगियों के उपचार में नेत्र विशेषज्ञों की भूमिका महत्वपूर्ण होती जा रही है। उचित एवं समयोचित उपचार से दृष्टिहीनता को रोका जा सकता है। एड्स द्वारा प्रायोजित नेत्र रोगों के लिए तीन प्रकार की औषधियाँ उपलब्ध हैं।

1. गेनसायक्लोव्हीर

2. फॉसकारनेट

3. सीडोफलोव्हीर

उपरोक्त दवाइयाँ एक या सम्मिलित रूप में दी जा सकती है। उपरोक्त दवाइयाँ तीन प्रकार से दी जाती है।

1. खून की नस द्वारा
2. आँख में सीधा इंजेक्शन
3. आँख में इम्पलान्ट के रूप में : इस प्रकार के प्रयोग से दवाई का प्रभाव दीर्घकालीन होता है।

उपरोक्त दवाइयों के प्रयोग से दृष्टिहीनता को रोका जा सकता है किन्तु लाख टके का सवाल इसके साथ जुड़ा है- दवाइयों की उपलब्धता, कीमत तथा प्रशिक्षित चिकित्सकों की संख्या के बारे में। दुर्भाग्यवश उपलब्धता से अनुपलब्धता अधिक है, कीमत एक सामान्य रोगी की पहुँच से दूर है तथा इस क्षेत्र में प्रशिक्षित नेत्र विशेषज्ञ भी कम ही है। अतः उपचार सम्भव तो है किन्तु क्रियान्वयन उतना ही कठिन है। नेत्र रोगों के उपचार के साथ-साथ अन्य रोगों का उपचार भी होना चाहिये अन्यथा सफलता की मात्रा कम ही रहती है।

उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए इसकी रोकथाम तथा जनजागरण की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। इस दृष्टि से यौन शिक्षा, हेल्थ केयर सुविधाओं में इजाफा, जनरल हाइजीन व्यवस्था तथा सोशो एकनामिक स्थितियों में सुधार से इस महामारी पर नियंत्रण हो सकता है और दृष्टिहीनता पर भी रोक लग सकती है। उपेक्षित वर्ग की ओर अधिक ध्यान प्राथमिकता के आधार पर केन्द्रित किया जावे जो इस रोग को रोका जा सकता है।

चूँकि यह एक सामाजिक अभिशाप है अतः इसकी रोकथाम के लिये स्वयंसेवी संगठनों, समाजसेवी संस्थाओं तथा शासकीय संस्थाओं के संयुक्त प्रयास की आवश्यकता है जो एक प्रबल राजनीतिक इच्छाशक्ति से ही सम्भव है।

तम्बाकू भी दृष्टिहीनता का कारण हो सकता है

तम्बाकू सेवन और इससे उत्पन्न कुप्रभाव एक विश्वीय समस्या है, जो किसी देश, प्रांत, जाति या वर्ग तक सीमित नहीं है। तम्बाकू का उपयोग नया नहीं है - इसका सेवन अनादि काल से होता आया है। भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं है- जहाँ इसका उपयोग खुले दिल से हो रहा है। तम्बाकू सेवन बीड़ी, सिगरेट, सिगार, पाइप, गुटखा तथा जरदे के रूप में किये जाने के कुप्रभाव को प्रचारित भी किया जा रहा है- यह एक अच्छा प्रयास है। विडम्बना है कि इस सबके बावजूद शिक्षित वर्ग आज भी इसका सेवन करता है। इसके अतिरिक्त भारत में हुक्के, चिलम तथा नास के रूप में तम्बाकू का उपयोग विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र में आज भी पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। हुक्के के माध्यम से तम्बाकू सेवन का प्रदर्शन फिल्मों में परदे पर देखने को मिलता है।

तम्बाकू सेवन मनोरंजन, आनंद, थकान मिटाने, तनाव तथा भय के समय तथा प्रतिष्ठा के रूप में किया जाता है। यात्रा के समय अनजाने सहयात्री से परिचय स्थापित करने का भी यह एक माध्यम माना गया है। अंततः तम्बाकू का उपयोग अबाधगति से चालू है।

एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में तम्बाकू सेवन करने वालों की संख्या 20 करोड़ अनुमानित है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार पूरे विश्व में 4 करोड़ व्यक्ति तम्बाकू सेवन से मरते हैं। वर्तमान तम्बाकू सेवन की गति से 21 वीं शताब्दि के मध्य तक यह संख्या 45 करोड़ तक पहुँच सकती है।

तम्बाकू सेवन से 25 से अधिक घातक बिमारियाँ होती हैं - जैसे फेफड़े तथा गले का कैंसर, हृदयघात, श्वसन संबंधी बिमारियाँ, सब म्युकस फाइब्रोसिस इत्यादि। उपरोक्त बिमारियों के अतिरिक्त लम्बे समय तक तम्बाकू सेवन से एक विशेष प्रकार का नेत्र रोग “टोबेक्को अम्बलोपिया” हो सकता है। परिणाम स्वरूप नेत्र ज्योति कम हो जाती है और उचित एवं सामयिक उपचार के अभाव में दृष्टिहीनता का कारण बन सकती है।

टोबेक्को अम्बलोपिया तम्बाकू के अत्यधिक तथा असंयमित उपयोग से होता है- विशेषकर पाइप द्वारा उपयोग तथा तम्बाकू खाने से इस रोग के होने का प्रतिशत अधिक होता है। कभी-कभी तम्बाकू के कारखानों में कार्यरत कर्मियों में इसकी धूल (डस्ट) के अवशोषण से भी यह बिमारी हो सकती है। ‘शेग’- कटे हुए तम्बाकू, अधिक क्षमतावान मिश्रण या सिगार के सेवन से भी इस बिमारी की मात्रा अधिक हो सकती है। मदिरापान, शारीरिक कमजोरी, उदर रोग तथा विटामिन बी-12 की कमी इस रोग में सहायक का काम करते हैं। यह बिमारी

बहुधा 35-40 वर्ष आयु समूह के, अधिक मात्रा में लम्बे समय तक तम्बाकू सेवन करने वाले व्यक्तियों को प्रभावित करती है। यह बिमारी दोनों आँखों में असमान रूप से होती है।

इस बिमारी का प्रमुख लक्षण बढ़ता हुआ धुंधलापन है। इसमें सेन्ट्रल विजन अधिक प्रभावित होता है। अतः धुंधलापन कम रोशनी या सायंकांल में कम मात्रा में होता है। इसमें पढ़ना-लिखना तथा बारीक काम करना सम्भव नहीं हो पाता है। इसका निदान तथा उपचार नेत्र विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। उपचार का प्रथम तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है- तम्बाकू तथा मदिरापान पर रोक। विटामिन बी-12 इस बिमारी में अत्यधिक उपयोगी है। उचित तथा समय पर उपचार से दृष्टिहीनता को रोका जा सकता है।

तम्बाकू से उत्पन्न समस्त समस्याओं के निराकरण हेतु सामूहिक प्रयास आवश्यक है। प्रायः देखा गया है कि स्वास्थ्य तथा सामाजिक संगठन इस प्रकार के कार्यों में रूचि तो लेते हैं, जो प्रशंसनीय भी है, किन्तु ऐसे प्रयास सतत नहीं रहते। इसके अतिरिक्त इन संगठनों में सामजस्य तथा आपसी तालमेल के अभाव के फलस्वरूप अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते हैं। इसके अलावा इन संगठनों में प्रचार-प्रसार की भूख इतनी हावी हो गई है कि उद्देश्य दरकिनार हो गये हैं। अतः आवश्यक है कि तम्बाकू सेवन की रोकथाम के लिए एक कार्य योजना बनाई जाये जिसमें निम्नांकित सुझावों का समावेश आवश्यक है और फलदायी भी होगा।

1. तम्बाकू उत्पादन सीमित मात्रा में हो तथा उपयोग में आने वाली वस्तुएँ जैसे सिगरेट, बीड़ी इत्यादि पर प्रतिवर्ष मूल्य वृद्धि की जावे।

2. तम्बाकू से बनी वस्तुओं के पैकिंग पर चेतावनी लिखना अनिवार्य कर दिया जावे जैसा कि वर्तमान में सिगरेट के पैकेट पर लिखा जाता है।

3. सार्वजनिक स्थानों पर तम्बाकू सेवन प्रतिबंधित किया जावे।

4. प्रोत्साहन स्वरूप तम्बाकू सेवन छोड़ने वालों तथा छुड़ाने वाली संस्थाओं को सार्वजनिक रूप से सम्मानित किया जावे।

5. सामाजिक संगठन अपने कार्यक्रमों में इसका समावेश करें। ऐसा न करने वाली संस्थाओं को प्रतिबंधित किया जावे।

6. घातक परिणामों के बारे में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराई जावे। ग्रामीण क्षेत्र के लिए विशेष ध्यान दिया जावे। यह कार्य पंचायती राज व्यवस्था, जिला सरकार तथा ग्रामीण सरकार के माध्यम से सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

7. मनोवैज्ञानिक कारणों के निराकरण हेतु योग तथा ध्यान (मेडीटेशन) जैसे माध्यमों का उपयोग किया जावे ।

8. आज भी धर्मगुरु आदर तथा सम्मान प्राप्त व्यक्ति हैं । इनके प्रति आस्था भी कम नहीं है । उनके द्वारा कही गई बात के पालन का प्रयास भी किया जाता है । अतः इस विषमता को दूर करने में उनके सहयोग तथा मार्गदर्शन के लिए अनुरोध किया जाना सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है ।



ऐतिहासिक दृष्टि से चश्मों का इतिहास बहुत पुराना है। चश्मे के आविष्कार का श्रेय ब्रिटेन के प्रसिद्ध चिकित्सक रोजर बेकन को जाता है, जिन्होंने तेरहवीं शताब्दी में 1280 में चश्मे के विचार को साकार रूप प्रदान किया। उसके बाद तो अनेक प्रकार के चश्मे बनाए गए जिसके परिणामस्वरूप आज जैसी सुविधाजनक स्थिति बन पाई।

आँख की बनावट

आँख की लम्बाई 24 मि.मी. होती है। लम्बाई के कम या ज्यादा होने पर या आँख के काले भाग जो कार्निया के नाम से जाना जाता है उसके असामान्य घुमाव (कर्वेचर) होने से अनेक प्रकार के नेत्र दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ये निम्नलिखित हो सकते हैं :-

- (1) निकट दृष्टिता-मायोपिया
- (2) दूरदृष्टिता-हायपर मेट्रोपिया
- (3) दृष्टिवेष्य-एस्टिगमेटिज्म

इसके अलावा बढ़ती उम्र की वजह से एक विशेष प्रकार की स्थिति का निर्माण होता है जिसे नेत्र विज्ञान में प्रेसबायोपिया कहते हैं।

निकटदृष्टिता-मायोपिया

निकटदृष्टिता या शार्टसाइट या मायोपिया के कारणों के बारे में आज भी अनिश्चितता का वातावरण है। माता-पिता या वंशगत भी यह दोष संभव है। अन्तःश्रावी या अन्दर की ग्रंथियों में जरूरी रस उत्पादन की गड़बड़ी से भी बीमारी संभव है। कुपोषण व कमजोरी भी इस तरह की बीमारी के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं, इस बीमारी के लक्षण निम्न प्रकार के होते हैं :-

- (1) दूर की वस्तु का साफ-साफ नहीं दिखना।
- (2) पास का काम करने में असुविधा।
- (3) आँख के सामने काले धब्बे आना।
- (4) आँखों में चमक महसूस करना, लाल होना, पानी आना।
- (5) पुतली असाधारण या बड़ी होना, आँख भी बड़ी होती है।
- (6) आँख में तिरछापन (स्किविंट) होना।

निकटदृष्टिता आँख की एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें किसी भी वस्तु का प्रतिबिम्ब दृष्टिपटल (रेटिना) पर नहीं बन पाता है ।

उपचार : (1) उचित चश्मे का उपयोग । चश्मे से दृष्टि सामान्य हो जाती है और आँखों की अन्य कठिनाइयों को दूर करने में भी मदद मिलती है ।

(2) पढ़ते-लिखते समय सामान्य व उचित प्रकाश व्यवस्था ।

(3) सामान्य स्वास्थ्य के बारे में सतत् ध्यान ।

विशेष रूप से निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना उपयोगी हो सकता है:-

(1) प्रतिवर्ष चिकित्सक से नेत्र परीक्षण कराएँ- विशेष रूप से छात्रों के लिए यह बेहद जरूरी है ।

(2) चश्मे के उपयोग से चश्मे का नम्बर कम नहीं होता ।

(3) सामान्य तौर पर चश्मे का नम्बर 22 वर्ष की आयु के बाद नहीं बढ़ता ।

दूरदृष्टिता-हायपर मेट्रोपिया : आँख के इस दोष में आँख की लम्बाई सामान्य से कम होती है । फलस्वरूप प्रतिबिम्ब दृष्टिपटल (रेटिना) के पीछे बनता है । जन्म के समय प्रत्येक शिशु की आँख हायपर मेट्रोपिक होती है और आयु के साथ आँख की लम्बाई भी बढ़ती है जिससे यह दोष समाप्त हो जाता है । इसके लक्षण खासतौर पर पास के काम करने की वजह से उत्पन्न होते हैं विशेष रूप से संध्या के समय कृत्रिम प्रकाश में काम करने से लक्षण ज्यादा प्रकट हो जाते हैं । इसमें आँखों में रूखापन, जलन और दर्द भी होता है । पलक झपकना ज्यादा बढ़ जाता है । आँखों में भारीपन और सरदर्द भी होता है । इससे आँख का तिरछापन भी हो सकता है ।

उपचार : उचित चश्मे का उपयोग । चश्मे में कानवेक्स लेन्स दिये जाते हैं ।

दृष्टिवैषम्य-एस्टिगमेटिज्म : इस रोग में प्रकाश बिन्दु दृष्टिपटल पर प्रतिबिम्ब को समोचित नहीं कर पाता । कार्निया की गोलाई में भी त्रुटि रहती है जिससे यह रोग जन्मजात माना जाता है । कार्निया में पारदृष्टिता की कमी से भी ये रोग संभव है । इसके मूल लक्षण हैं : दृष्टिदोष, भारीपन और नेत्रगोलक (आईबाल) में दर्द, अक्षरं मिले-मिले भी दिख सकते हैं ।

उपचार : (1) उचित नम्बर के चश्मे के उपयोग से लक्षण समाप्त हो जाते हैं ।

इस बीमारी से चश्मे में विशेष प्रकार से लेन्स सीलेड्रीकल लेन्स होते हैं ।

प्रेस बायोपिया : इस रोग के लिए सचमुच में बढ़ती आयु जिम्मेवार है । आमतौर पर चालीस वर्ष की आयु के बाद इसका प्रभाव दिखाई देता है । इसके मूल लक्षण हैं पास का कम दिखना, पढ़ने-लिखने में तकलीफ होना । प्रारंभ में यह कठिनाई शाम के समय कम रोशनी में होती है। यह दोष आँख के अन्दर लेन्स में लोच कम होने से आता है ।

उपचार : (1) चश्मे का उपयोग करें । चश्मे में उत्तल (कानवेक्स) लेन्स दिये जाते हैं । चश्मे का नम्बर दो वर्ष में बदल जाता है । यह क्रम 60 वर्ष की आयु तक चलता है ।

अफेकिया : मोतियाबिन्द के ऑपरेशन के बाद की स्थिति को “अफेकिया” कहते हैं । इस प्रकार की स्थिति में भी आँख “हायपर मेट्रोपिक” हो जाती है । इसमें चश्मा लगाने के बाद दृष्टि सामान्य हो जाती है ।

एनआयसोमेट्रोपिया : यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें दोनों आँखों के अपवर्तन (रिफ्रेक्शन) में उल्लेखनीय अंतर होता है । थोड़ा अन्तर तो सामान्य है । यह अवस्था पैदाइशी भी हो सकती है और बाद में भी उत्पन्न हो सकती है ।

लक्षण : आमतौर पर मरीज आँखों की थकावट की तथा आयस्ट्रेन की शिकायत करते हैं । यदि दोनों आँखों के रिफ्रेक्शन में अन्तर अधिक न हो तो द्विनेत्री दृष्टि होती है । (वायनाक्युलर विजन) अधिक अन्तर की स्थिति में वायनाक्युलर विजन संभव नहीं होता । जिस आँख का उपयोग न हो उसका टेढ़ी होने का खतरा बना रहता है ।

उपचार : कठिन तथा परिस्थितियों पर आधारित है । उपचार तीन प्रकार के संभव हैं । (1) चश्मे द्वारा (2) काँटेक्ट लेंस (3) आइसोकोनिक लेंस ।

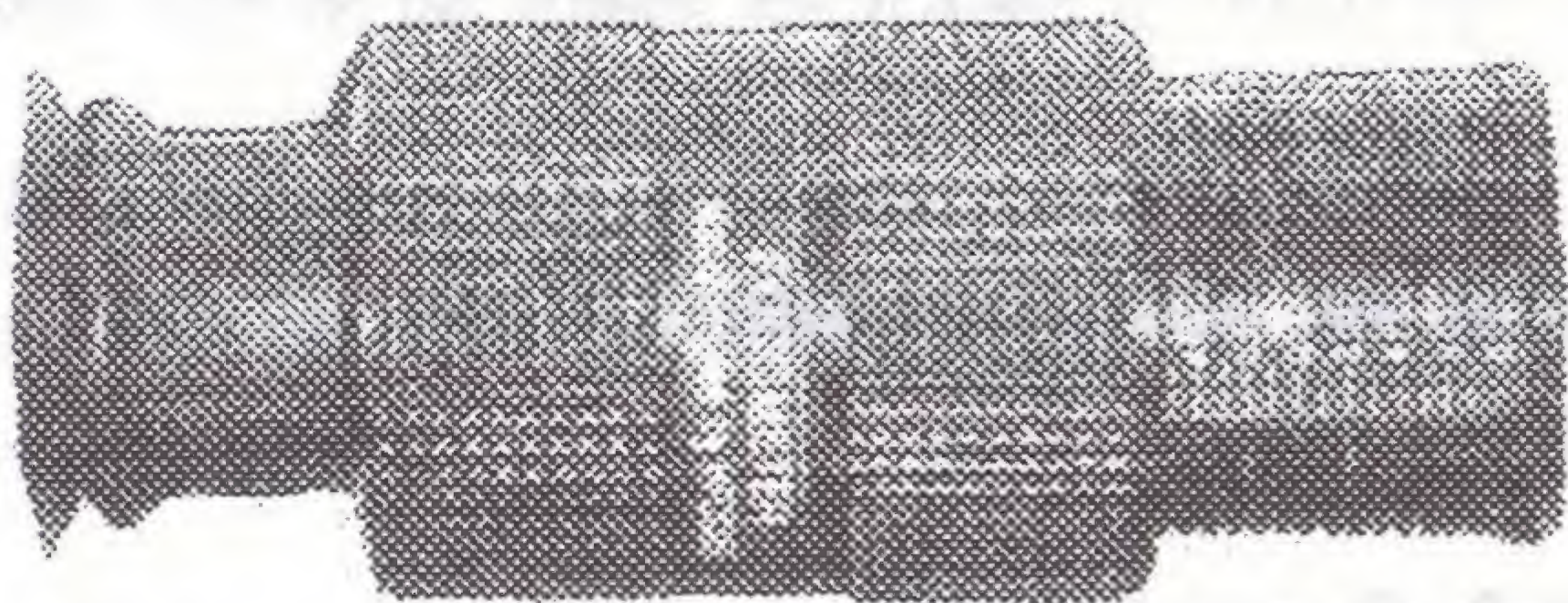
सावधानी : (1) किसी दूसरे व्यक्ति के चश्मे के उपयोग से हानि होती है ।

(2) ग्रामीण क्षेत्रों में कभी-कभी चश्मे बेचने वाले पहुंच जाते हैं, बगैर जाँच के चश्मा बेच देते हैं, यह हानिकारक होता है ।

चश्मे के नम्बर हेतु आधुनिक उपकरण फोकोमीटर

विश्व में लगभग 200 करोड़ व्यक्ति स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित है। इस वर्ग का एक बड़ा भाग दृष्टिदोष से पीड़ित है। विश्व स्वास्थ्य संघठन के अनुसार यह संख्या 50 करोड़ है। अन्य दो अलग-अलग अनुमानों के अनुसार इस संख्या को क्रमशः 40 तथा 90 करोड़ बताया गया है। इस दृष्टि दोष को चश्में की सुविधा उपलब्ध कराने से दूर किया जा सकता है।

दृष्टिहीनता तथा दृष्टि दोष की समस्या विश्व स्तरीय है। अलग-अलग क्षेत्रों तथा देशों में इसका प्रतिशत भिन्न है। भारतवर्ष में यह समस्या अत्यधिक मानी गई है चूंकि इस देश की जनसंख्या का 80% भाग ग्रामीण तथा आदिवासी क्षेत्र में रहता है। इस क्षेत्र में नेत्र रोगों के उपचार की व्यवस्था, तकनीकी तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या, आवागमन की सुविधा तथा चश्मों की उपलब्धता लगभग नहीं के बराबर है। अतः दृष्टि दोष से पीड़ित व्यक्तियों की अधिक संख्या अवश्यभावी है।



वैसे तो इस दोष के लिये कोई सर्वेक्षण प्रकाशित नहीं हुआ है किन्तु एक अपक अनुमान से दृष्टि दोष के व्यक्तियों की संख्या 2.1.-2.7 करोड़ मानी गई है। एक अन्य अनुमान के अनुसार शहरी क्षेत्र में 1.09 करोड़ व्यक्ति दृष्टि दोष से पीड़ित है और 2.95 लाख व्यक्ति इसी कारण से दृष्टिहीन हो चुके हैं। ग्रामीण क्षेत्र में दृष्टिदोष के कारण हुए दृष्टिहीन व्यक्तियों की संख्या 10 लाख है। अन्य विकासशील देशों में समस्या इससे भी अधिक गंभीर हो सकती है। इस व्याधि का प्रभाव स्कूली छात्रों पर अधिक होता है।

दृष्टिदोष का प्रमुख कारण रिफ्रेक्टिव एरर है जो तीन प्रकार के होते हैं :-

1. मायोपिया - शार्ट साइट (नजदीक दृष्टि)
2. हायपर मेट्रोपिया (हायपरोपिया लांग साइट (दूर दृष्टि)
3. एस्टीगमेटिज्म

उपरोक्त तीनों प्रकार की विषमताओं का प्रमुख लक्षण कम दिखना (इम्पेयरड विजन) होता है। दृष्टि दोष के अलावा इन रोगों में सिरदर्द, आँख की थकान तथा पढ़ने-लिखने या नजदीक के काम के बाद कष्ट या असुविधा भी होती है।

वैसे तो चशमें का आविष्कार नया नहीं है। रोजन बेकन नामक ब्रिटेन के प्रसिद्ध चिकित्सक ने तेरहवीं शताब्दी में सन् 1280 में चशमें के विचार को साकार रूप दिया था। उस वक़्त के बाद तो अनेक प्रकार के चशमें बनाये गए हैं। खेदजनक है कि इसके बाद भी चशमों का लाभ जरूरतमंद व्यक्तियों को नहीं मिल पा रहा है।

रिफ्रेक्टिव एरर का निदान वर्तमान में नेत्र विशेषज्ञ तथा आप्टोमेट्रिस्ट द्वारा किया जाता है। निदान निम्नांकित दो प्रणालियों से किया जा सकता है।

1. रेटिनोस्कोपी यह सबसे पुरानी जांच प्रणाली है। इस प्रणाली से विशेषज्ञ हस्ताचालित (मेन्यूली) चशमे का नम्बर निकालते हैं।

2. ऑटोरिफ्रेक्टर के प्रयोग से :- यह एक आधुनिक आयातित उपकरण है जिसकी पहचान कम्प्यूटर के नाम से बना दी गई है। इस उपकरण हेतु कम्प्यूटर शब्द का प्रयोग उचित नहीं है।

रेटिनोस्कोपी तथा ऑटोरिफ्रेक्टर विधियों के प्रयोग की सीमाएँ, पूर्व आवश्यकताएँ तथा कठिनाईयाँ भी हैं। जैसे-

1. बिजली की सतत् उपलब्धता।
2. प्रशिक्षित तथा अनुभवी तकनीकी व्यक्ति की उपलब्धता।
3. परिक्षणार्थी का सहयोग।
4. ऑटोरिफ्रेक्टर नामक उपकरण महंगा और आयातित है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना संभव नहीं है।
5. रेटिनोस्कोपी में समय अधिक लगता है। अनुभवी चिकित्सक ही यह कार्य कर सकते हैं। प्रशिक्षणार्थी का सहयोग भी इस विधि में आवश्यक है जिसकी उपलब्धता कम ही होती है।

इन सीमाओं, कठिनाईयों तथा तकनीकी व्यक्तियों की कमी के कारण दृष्टिदोष की समस्या का निराकरण नहीं हो पाया है और सामान्य व्यक्ति को चशमें का लाभ नहीं मिल पा

रहा है। अतः संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सतत् अनुसंधान के परिणाम स्वरूप हयुस्टन विश्व विद्यालय के प्रसिद्ध नेत्र विशेषज्ञ डॉ. आयन बी. बर्गर ने सन् 1988 में एक अभिनव उपकरण को बनाने में सफलता प्राप्त की है- जो “फोकोमीटर” के नाम से जाना जा रहा है।

फोकोमीटर कई प्रकार की विशेषताओं वाला उपकरण है। यह सरल, कम कीमत वाला “मानोआकुलर” यंत्र है जिसे हाथ में सरलता से पकड़ा जा सकता है। फोकोमीटर को चलाने के लिये कृत्रिम प्रकाश (बिजली) की आवश्यकता नहीं है। इसके लिये तो चश्मे का नम्बर यंत्र में ही स्थापित डायप्टर लिनियर स्केल पर सीधा देखा जा सकता है। फोकोमीटर नामक यंत्र की अन्य और भी विशेषताएं हैं जो इसके उपयोग को सरल बनाती हैं- उदाहरणार्थ वजन 1 किलोग्राम से कम, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में आसानी, रखरखाव की झंझट से मुक्ति तथा सामान्य मूल्य एक ऑटोरिफ्रेक्टर का मूल्य लगभग 25 फोकोमीटर के मूल्य के बराबर है।

इस यंत्र की अन्य श्रेष्ठताएँ भी हैं- शारीरिक रूप से अस्वस्थ तथा कमजोर व्यक्तियों के निवास पर चश्मों का नम्बर सरलता से निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्कूल, कार्यस्थल तथा अन्य सार्वजनिक स्थान पर भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

नेत्र विशेषज्ञ तथा आप्टोमीटरिस्ट तो इसका उपयोग कर ही सकते हैं। इसकी सरलता इतनी अधिक है कि विज्ञान का स्नातक भी सामान्य प्रशिक्षण के बाद इस उपकरण का उपयोग सक्षमता से कर सकता है।

विशेषताओं से भरपूर फोकोमीटर का उपयोग वर्तमान में 40 देशों में किया जा रहा है। भारतवर्ष में मध्यप्रदेश में भी इस उपकरण का उपयोग पिछले 2 वर्षों से विदिशा जिले के गंजबासौदा क्षेत्र में सफलतापूर्वक किया जा रहा है। क्षेत्र के 100 गाँव लाभान्वित हो चुके हैं। जिला अंधत्व निवारण समिति के सहयोग से निःशुल्क चश्मों भी वितरित किये जा रहे हैं।

इन तथ्यों पर गंभीरतापूर्वक विचारोपरान्त निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान में नेत्र सुरक्षा (आय केयर) के लिये एक व्यापक नीति निर्धारण की आवश्यकता है। नीति निर्धारण के लिये जनसंख्या आधारित विश्वसनीय आंकड़ों की आवश्यकता होगी। व्यापक प्रस्तावित नीति के अन्तर्गत ही रिफ्रेक्टिव एरर द्वारा निर्मित दृष्टिदोष को दूर करने के प्रयास किये जा सकते हैं। नीति के अन्तर्गत ही प्रत्येक प्रदेश में एक आय-केयर संस्थान की स्थापना की जा सकती है। संदर्भित नीति का क्रियान्वयन पांच सूत्रीय प्रयासों के अन्तर्गत करने से उत्साहवर्धक परिणाम मिल सकते हैं।

1. नेत्र रोगों के प्रति जागरूकता ।
2. तकनीकी प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या में आवश्यक वृद्धि ।
3. गुणवत्ता आधारित सामान्य कीमत के चशमों की उपलब्धता ।
4. ग्रामीण तथा पिछले क्षेत्रों में निदान शिविरों के माध्यम से दृष्टिदोष निराकरण कार्यक्रम ।
5. विश्वसनीय स्वयंसेवी संगठनों की भागीदारी ।

इस पवित्र अति आवश्यक मानवीय कार्य में आधुनिकतम अभिनव उपकरण “फोकोमीटर” महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में सक्षम है । उत्तम होगा कि देश के 7 राज्यों में क्रियाशील विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित मोतियाबिन्द उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत फोकोमीटर के उपयोग से दृष्टिदोष के अभिशाप को दूर किया जावे । मध्यप्रदेश इस कार्य में अग्रणी होकर अहम भूमिका निभा सकने में सक्षम है और दूसरे प्रदेशों के सम्मुख एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत कर, देशवासियों के कष्ट निवारण में सहायक हो सकता है ।

उद्देश्यहीन बन गये आज के नेत्र शिविर

अंधत्व न केवल वैयक्तिक अभिशाप है वरन् यह आर्थिक दुःस्वप्न भी है। विश्व के 1.6 करोड़ व्यक्ति अशक्ततायुक्त कम दृष्टि दोष से पीड़ित हैं। इनमें से दो तिहाई का दृष्टि दोष रोका जा सकता है। केवल भारत में दृष्टिहीनों की संख्या 1.2 करोड़ है। इनमें से अधिकतर मोतियाबिंद से पीड़ित हैं। ऐसी स्थिति प्रायः समस्त विकासशील देशों में पाई जाती है। मोतियाबिंद के कारण विश्व में 1.9 करोड़ लोग दृष्टिहीन हैं। ऐसा अनुमान है कि 2020 तक दृष्टिहीनों की संख्या दुगुनी हो जाएगी। इस भयावह स्थिति के बावजूद मोतियाबिंद के रोकने और औषधि से उपचार हेतु पर्याप्त प्रभावशील और विश्वसनीय उपाय नहीं किये गये हैं - किये गये उपायों में सफलता नहीं मिली है।

इस कारण मोतियाबिंद का उपचार शल्य चिकित्सा द्वारा ही संभव है। इस शल्य चिकित्सा के उद्भव का श्रेय तो भारत को ही है, जहां सन् 3000 बी.सी. में सुश्रुत ने यह शल्य चिकित्सा प्रारंभ की। उसके बाद सन् 1753 में जेकेस्ट डेव्हियल ने भी उसी प्रणाली से मोतियाबिंद का शल्य चिकित्सीय कार्य किया। उनके द्वारा अपनाई गई तथा काउचिंग के नाम से पहचानी जाने वाली शल्य चिकित्सा प्रणाली अमान्य हो चुकी है। मोतियाबिंद की संख्या, ग्रामीण जनसंख्या की बाहुल्यता, अज्ञानता, आर्थिक कठिनाइयां तथा आवागमन के साधनों की अनुपलब्धता एवं प्रशिक्षित नेत्र विशेषज्ञों की कम संख्या के कारण दृष्टिहीनता निवारण के पवित्र उद्देश्य और लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ग्रामीण जनता के नेत्र रोग निवारण की दृष्टि से उनका उपचार उनके ही द्वार पर करने के लिये नेत्र शिविर व्यवस्था प्रारंभ हुई जो आज भी पाश्चात्य देशों में सराही जाती है। इस व्यवस्था के कम खर्चीली तथा सफल होने के कारण, यह सामान्य जनता के आकर्षण का कारण भी बनी। पूर्व में तो इस प्रकार के शिविरों की संख्या कम होती थी और आयोजन शासकीय स्तर पर किन्तु शनैः शनैः सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा अन्य संगठनों ने विविध उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये नेत्र शिविरों के आयोजन के माध्यम से समाजसेवा का कार्य प्रारंभ कर दिया। उन दिनों नेत्र चिकित्सकों के प्रशिक्षण की सुविधा नगण्य ही थी, अतः संख्या भी कम और जो विशेषज्ञ थे उनकी उपलब्धता न्यूनतम संख्या में बड़े शहरों में या चिकित्सा महाविद्यालयों में ही होती थी। फलस्वरूप नेत्र शिविरों का कार्य सम्पादित करने के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषज्ञ जाते थे- शल्य चिकित्सा पूरी होने के बाद एक विशेषज्ञ पोस्ट ऑपरेटिव केअर के लिये वहां रहता ही था। इस कार्य को पूर्ण जिम्मेदारी तथा गंभीरता से करने के कारण जटिलताओं की संख्या न्यूनतम होती थी। आज स्थिति में परिवर्तन हुआ, प्रशिक्षित नेत्र विशेषज्ञों की संख्या बढ़ी जो आज जिला मुख्यालय के अलावा कई तहसील स्तरीय स्थान पर भी उपलब्ध है- यह उत्साहवर्धक

बात है ।

वर्तमान में भारतवर्ष में दृष्टिहीनता का प्रतिशत 1.4 है जो अन्तर्राष्ट्रीय 0.3 प्रतिशत से अधिक है । इस प्रतिशत को कम करने, दृष्टिहीनता के अभिशाप से मुक्ति पाने तथा देश के विकास में दृष्टिहीन व्यक्तियों का उपयोग करने की दृष्टि से एक राष्ट्रीय कार्यक्रम “नेशनल प्रोग्राम फार प्रिवेंशन ऑफ व्हीजवल इम्पेयरमेंट एंड कंट्रोल ऑफ ब्लाइंडनेस” सन् 1976 में बना तथा कार्यान्वित होना प्रारंभ हुआ । इस कार्यक्रम की रूपरेखा को सर्वत्र यहां तक कि पाश्चात्य देशों में सराहा गया किन्तु लगभग 22 वर्षों के बाद भी हम इसकी असफलता पर आंसू बहा रहे हैं। फिर भी यह तो अवश्य ही कहा जावेगा कि वृहद पैमाने पर यह पहला प्रयास था । नेत्र शिविर प्रणाली की भूमिका को महत्वपूर्ण मानकर इस कार्यक्रम में भी सम्मिलित किया गया - सुविधाओं तथा चलित नेत्र इकाई का प्रावधान कर उपलब्धि भी कराई गई । नेत्र शिविरों में वैसे तो मुख्यतया मोतियाबिंद की शल्य चिकित्सा की जाती है, किन्तु इसके अलावा कांचबिंदु या कालामोतिया, नाखूना, नासूर, परबाल जैसी बिमारियों की चिकित्सा की व्यवस्था भी रहती है । यह बात अलग है कि चिकित्सकों का ध्यान मोतियाबिंद पर ही केन्द्रित रहता है, जिसके दुष्परिणाम भी कई बार देखने को मिले हैं । मोतियाबिंद के आपरेशन भी पूर्व स्थापित संभव एवं सफल चिकित्सा प्रणाली इंटरा केपसुलर या एक्स्ट्रा केपसुलर से किये जाते रहे हैं जो कि कम खर्चीले तथा कम समय में सफलतापूर्वक अधिक संख्या में किये जाते हैं । जब तक शासन द्वारा सहयोग केवल सुविधाओं के रूप में उपलब्ध होता था- उस समय तक अन्य खर्च की व्यवस्था पुण्य का कार्य समझकर स्थानीय व्यक्ति तथा संगठन ही करते थे । कुछ संस्थाएं जैसी रोटरी इंटरनेशनल, रायल कामनवेल्थ सोसाइटी फार ब्लाइंड, आर्थिक सहयोग देती थीं । आयोजकों को इस जानकारी के अभाव के कारण बिचौलियों ने इस स्थिति का भरपूर व्यक्तिगत लाभ उठाया ।

इस क्षेत्र में दूसरा बड़े पैमाने पर कार्य, वर्ल्ड बैंक ने एक कार्य योजना “वर्ल्ड बैंक प्रोजेक्ट आन कंट्रोल ऑफ ब्लाइंडनेस” प्रारम्भ किया जिसका उद्देश्य था मोतियाबिंद के बेकलाग की संख्या को 6 वर्षों में समाप्त करना । भरपूर आर्थिक सहायता भी उपलब्ध कराई गई । कार्य प्रणाली योजना, समितियां तथा अन्य औपचारिकताएं भी स्थापित हुईं । यह योजना मध्यप्रदेश तथा राजस्थान सहित देश के सात राज्यों में कार्यान्वित है । योजना भी राजधानियों के वातानुकूलित कक्षों में बैठकर कार्य करने वालें अनुभव शून्य तथा दक्षताहीन व्यक्तियों ने बनाई । औपचारिकता स्वरूप प्रभावी किन्तु उन नेत्र विशेषज्ञों को इस कार्य से जोड़ा गया जिन्होंने संभवतया नेत्र शिविर देखे ही नहीं । इस तरह यह योजना भी एक शासकीय उपक्रम बन गई और सेवानिवृत्त, बेरोजगार एवं इस क्षेत्र से असंबंधित व्यक्तियों के रोजगार के लिये अच्छा चारागाह बना दी गई । उदाहरण तो ऐसा भी है कि इस योजना के अन्तर्गत राज्य स्तरीय शीर्षस्थ पद को, व्यक्ति विशेष के लिये

उनकी सेवानिवृत्ति के दिनांक की प्रतिक्षा करनी पड़ी। अतः इस योजना की सफलता की कामना ही की जा सकती है। इतना तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार की योजना से सामान्य जनमानस में चैतन्यता आई, जागरूकता भी हुई तथा कार्य के लिये वातावरण भी बना, किन्तु यह भी सर्वमान्य स्वीकारोक्ति है कि इस प्रकार के आयोजनों में एक भावनात्मक प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ा। मोतियाबिंद की शल्य चिकित्सा की गंभीरता कम मानी जाने लगी। यह एक बड़ी भूल तथा चिंतनीय बात है। मैं इसे नेत्र शिविरों की बाहुल्यता का दुष्परिणाम मानता हूँ।

वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत मोतियाबिंद के “बेकलाग” को समाप्त करने का प्रयास त्रीस्तरीय है। (1) निजी क्षेत्र (2) संस्थागत (3) नेत्र शिविर। निजी क्षेत्र तथा गैर शासकीय संस्थाओं का योगदान जिनकी संख्या नगण्य है- नहीं के बराबर है। ये क्षेत्र क्रमशः जीविका कमाने, आर्थिक लाभ तथा संस्थाओं पर वर्चस्व स्थापित रखने के उपक्रम हैं। अतः अंधत्व निवारण कार्यक्रम के क्रियान्वयन का भार लगभग शासकीय तथा स्थानीय गैर शासकीय संगठनों पर ही है। देश के कुछ औद्योगिक घरानों का सहयोग भी प्रशंसनीय है। स्पष्ट है कि नेत्र शिविर आयोजन के लिये चलित नेत्र इकाई प्रशंसनीय माध्यम है जो जिला, संभाग तथा चिकित्सा महाविद्यालयीन स्तर पर स्थापित है। इन इकाइयों में स्टॉफ तथा धन की उपलब्धि भी पर्याप्त है। इस सबके बावजूद क्षमता का दोहन नहीं के बराबर है।

इन स्थितियों के कारण नेत्र शिविरों में आई विषमताओं का विश्लेषण आवश्यक है- अन्यथा किसी वैकल्पिक व्यवस्था पर विचार-विमर्श। नेत्र शिविर आयोजन के तीन प्रमुख बिन्दु हैं। (1) तकनीकी (2) आर्थिक (3) आयोजन प्रक्रिया। तकनीकी कार्य मूलतः चिकित्सक तथा पेरामेडिकल कर्मचारियों पर आधारित है। यह बात स्वीकारनी होगी कि चिकित्सकों की मानसिकता दूषित हो गई है। समय की पाबंदी, तकनीकी व्यवस्था तथा पोस्ट ऑपरेटिव केअर के प्रति गंभीरता दूर-दूर तक नहीं दिखाई देती। यहां तक कि शल्य चिकित्सा के बाद के कार्य के लिये कई स्थानों पर प्रशिक्षित विशेषज्ञ की उपलब्धता ही नहीं रहती। परिणामस्वरूप दुर्घटनाएं होती हैं जैसे राजस्थान, बिहार तथा वर्तमान में मध्यप्रदेश में घटी। कुछ स्थानों पर तो चिकित्सकों द्वारा निजी रूप से शल्य चिकित्सा कर पैसे भी लिये गये। अति उत्साही चिकित्सक, प्रशंसा प्राप्त करने वाले आयोजक, विशिष्ट शल्य चिकित्सा लेंस प्रत्यारोपण शिविरों में करने लगे हैं। स्थिति तो यहां तक बिगड़ी कि इसके शिविर भी आयोजित किये जाने लगे हैं। इस प्रकार के चिकित्सीय कार्य में सर्वसुविधा सम्पन्न स्थायी शल्य चिकित्सा कक्ष में लगभग 1 घंटे का समय लगता है- फिर इस प्रकार के अस्थायी, न्यूनतम सुविधा वाले स्थानों पर इस प्रकार की शल्य चिकित्सा का औचित्य क्या है और इसका स्तर क्या होगा इसका अनुमान सहज लगाया जा सकता है। यहां संयम तथा नियंत्रण की सलाह दी जा सकती है।

पूर्व में नेत्र शिविरों का खर्च दानदाता ही उठाते थे जिनकी आज भी कमी नहीं है बशर्ते आयोजक विश्वसनीय हों जैसा मैंने मध्यप्रदेश के कुछ स्थानों पर देखा। उदाहरणार्थ विदिशा जिले का गंजबासोदा, उज्जैन का बड़नगर तथा गुना का अशोकनगर। अन्य स्थान पर भी ऐसे दानदाता अवश्य हैं और होंगे भी। शासकीय सहायता भी पर्याप्त है चलित नेत्र इकाई में उपलब्ध सुविधाएं तथा प्रति आपरेशन 400-00 का अनुदान किन्तु खेद है कि कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जहां अनुदान की राशि का उपयोग आमोद-प्रमोद, निजी वाहनों का पेट्रोल खर्च, फोटोग्राफर खर्च तथा उद्घाटन एवं समापन जैसे अनावश्यक औपचारिक कार्यक्रमों पर किया जाता है। इस व्यय की पूर्ति शल्य चिकित्सा की संख्या को बढ़ा-चढ़ाकर बता कर किये जाने के प्रयास हुए हैं। चिकित्सक भी दबाव के कारण प्रमाणित कर देते हैं। एक अन्य विचारणीय बिन्दु भी है- कुछ शिविरों में आपरेशन की संख्या दहाई का अंक भी नहीं छू पाती। जहां विशेषज्ञ तथा कर्मचारियों की संख्या उससे अधिक होती है। ऐसे शिविर धन का अपव्यय ही माने जावेंगे। विस्मयकारी स्थिति तो यहां तक पहुंच गई कि कुछ शिविरों में दो-तीन संस्थाओं से शल्य चिकित्सक आमंत्रित किये जाते हैं या आमंत्रण प्राप्त किया जाता है। सब संस्थाएं इस शिविर में किये गये आपरेशन को अपने खाते में लिख कर चमकदार किन्तु भ्रमित करने वाले आंकड़े प्रस्तुत कर देते हैं। इस शर्मनाक स्थिति पर न तो कभी नियंत्रण हुआ न ही नियंत्रण का कोई प्रयास। कुछ गैर शासकीय संस्थाएं शिविर आयोजनकर्ताओं से धन भी लेने लगी हैं। अतः आज के नेत्र शिविर पूर्णतया व्यावसायिक तथा उद्देश्यहीन हो गये हैं और पूर्व नेत्र शिविरों से भिन्न। आयोजकों के स्तर पर भी सुधार आवश्यक है। नेत्र शिविर शुद्धतः केवल नेत्र शल्य चिकित्सा के लिये ही होते हैं किन्तु इनके साथ अन्य चिकित्सा संबंधी कार्य भी उस समय आयोजित कर देते हैं। फलस्वरूप असुविधा के साथ सुविधाओं की कमी होना स्वाभाविक है और शल्य चिकित्सा के स्तर में गिरावट भी संभव है। नेत्र शिविरों के स्थान पर चशमों की जांच भी की जाने लगी है। यह कार्य स्पष्ट रूप से व्यावसायिकता पर आधारित है क्योंकि एक दिन में लगभग 200 व्यक्तियों का परीक्षण कर चशमे के नम्बर निकाल दिये जाते हैं जब कि सामान्य परिस्थितियों में एक व्यक्ति के परीक्षण में लगभग 10-15 मिनट का समय लगता है। इससे स्पष्ट होगा कि इन परीक्षणों का स्तर क्या होता होगा। इस तरह के आयोजन पर रोक लगाना चाहिये।

इन स्थितियों पर नियंत्रण, चिंतन, गहन विचार-विमर्श तथा खुली चर्चा के बाद ही संभव है। चर्चा में नेत्र विशेषज्ञों की सक्रिय भागीदारी ही सफलता की ओर ले जा सकती है। स्थिति में परिवर्तन के लिये मेरे सामने दो विकल्प हैं :-

- (1) नेत्र शिविर के समकक्ष अन्य व्यवस्था स्थापित करने पर विचार।
- (2) नेत्र शिविर आयोजन प्रणाली में आमूल परिवर्तन।

वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में नेत्र शिविर के स्थान पर निदान पूर्व घोषित तथा प्रचारित स्थान, तिथि तथा समय पर ग्राम पंचायत, नगर पालिका या अन्य ग्रामीण क्षेत्र पर आयोजित कर शल्य चिकित्सा योग्य व्यक्तियों को तत्काल एक संबंधी के साथ जिला चिकित्सालय भेजा जावे। शल्य चिकित्सा तथा वापिस भेजने की तथा अन्य व्यवस्था निशुल्क हो यह सुनिश्चित किया जावे। इस कार्य के लिये स्थानीय स्तर पर निर्वाचित जनप्रतिनिधियों की सेवा का लाभ लिया जा सकता है।

उपरोक्त व्यवस्था किन्हीं कारणों से अमान्य होने की स्थिति में शिविरों की आयोजन प्रणाली में आमूल परिवर्तन किये जावें। मेरा सुझाव है कि :-

(1) डिस्ट्रिक्ट ब्लाइंडनेस कंट्रोल समिति का स्वरूप बदला जावे। सत्य तो यह है यह समिति अर्थहीन है और महज औपचारिकता स्वरूप गठित अनुपयोगी समिति है।

(2) प्रत्येक जिले में आयोजित किये जाने वाले नेत्र शिविरों की संख्या, स्थान तथा दिनांक समय से पूर्व निर्धारित किये जावें और इसकी सूचना भी जिले में उपलब्ध एवं कार्यरत समाजसेवी गैर शासकीय संगठनों को दी जावे ताकि उनके द्वारा आयोजित किये जाने वाले शिविर के स्थान का चयन किया जा सके। जिले में अनियंत्रित नेत्र शिविर न हो इसलिये संख्या का सीमित होना भी आवश्यक है- मेरे मत में यह कार्य जनसंख्या पर आधारित हो। प्रति 50000 की जनसंख्या पर एक शिविर का आयोजन पर्याप्त होगा और आर्थिक दृष्टि से भी उचित। शिविर के लिये निश्चित किये जाने वाले स्थान का आधार केवल सर्वेक्षण में मिली जानकारी पर आधारित हो। इस बिंदु पर जिला चिकित्सालय में पदस्थ नेत्र विशेषज्ञ की राय को सर्वाधिक महत्व देना होगा।

(3) एक ही नगर/ग्राम/स्थान पर एक वर्ष में एक से अधिक नेत्र शिविर आयोजित न किये जावें। इसमें उच्चस्तरीय राजनीतिक हस्तक्षेप तथा विषम स्थिति से बचने के लिये नियमों में प्रावधान किया जावे और कड़ाई से पालन भी।

(4) जिले के दो शिविर के आयोजन के स्थान में 20-30 कि.मी. की दूरी होना तथा तिथि में भी 10-15 दिन का अन्तर रखना अनिवार्य बनाया जावे।

(5) जिला मुख्यालय या इससे बड़े शहरों में नेत्र शिविरों के आयोजन को कानूनन प्रतिबंधित किया जावे इससे तो उच्च उद्देशीय शिविरों का मखौल ही उड़ता है।

(6) नेत्र शिविर की संख्या तथा लक्ष्य निर्धारण व्यवस्था पर पुनर्विचार आवश्यक है। इस कार्यक्रम को अन्य स्वास्थ्य कार्यक्रमों के समकक्ष मानना बहुत बड़ी भूल है।

(7) चूंकि जिले में आयोजित होने वाले शिविरों की जिम्मेदारी अलिखित रूप से जिला चिकित्सालय में पदस्थ नेत्र विशेषज्ञ की मानी जाती है किन्तु उनकी कठिनाइयों तथा अनुपलब्ध होती आवश्यक न्यूनतम सुविधाओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया- दूर करना तो अलग रहा। इस तथ्य पर भी विचार तथा आवश्यक कार्यवाही की जाने से कार्यक्रम की सफलता में सहायता मिलेगी। वर्तमान में प्रत्येक जिले में प्रशिक्षित तथा कुशल नेत्र विशेषज्ञ उपलब्ध हैं। अतः जिले के बाहर से नेत्र विशेषज्ञ के आमंत्रण से वो उपेक्षित महसूस करते हैं इसे यथा संभव शनैः शनैः कम किया जावे।

समय प्रतीक्षा नहीं करता, हाथ से निकला अवसर पुनः प्राप्त नहीं होता, समय पर उचित तथा त्वरित कार्यवाही के अभाव में पश्चाताप के अलावा कुछ नहीं बचता। परिवर्तन, सुधार तथा संशोधन के अभाव में दृष्टिहीनता का अभिशाप बना रहेगा जो हम नहीं चाहते। त्वरित कार्यवाही न करने का दोष जन प्रतिनिधियों का ही होगा। यह दोषारोपण भी हम नहीं चाहते। अतः कार्यवाही की अपेक्षा तथा शुभकामनाओं के साथ यह प्रस्तुति।

लाभदायक होगी- पुर्नसंरचना अन्धत्व निवारण कार्यक्रम की

यद्यपि अंधत्व और दृष्टिहीनता की समस्या विश्वव्यापी है तथापि भारत में इसका प्रभाव अपेक्षातयः अधिक ही है, विश्व की कुल 3 करोड़ दृष्टिहीन जनसंख्या में से लगभग 1.2 करोड़ व्यक्ति भारत में हैं। इनमें से 13,88,000 व्यक्ति मध्यप्रदेश में हैं अर्थात् प्रति एक हजार पीछे 21 व्यक्ति दृष्टिहीन हैं। इनमें से 11 लाख 24 हजार 361 मोतियाबिन्द से ग्रसित हैं, जो उपचार साध्य है और समय रहते उचित उपचार द्वारा इतनी बड़ी जनसंख्याओं को ज्योतिहीन होने से बचाया जा सकता है, प्रतिवर्ष 70-80 हजार मोतियाबिन्द के नए रोगी जुड़ते चले जाते हैं और यह समस्या गंभीर रूप धारण कर रही है। इस परिप्रेक्ष्य में दृष्टिहीनता की रोकथाम और अंधत्व पर नियंत्रण करने हेतु भारत सरकार ने 1976 में एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम का सूत्रपात किया था। उसका लक्ष्य ज्योतिहीनों की संख्या का वर्तमान स्तर एक हजार पीछे 14 से घटाकर एक हजार पीछे तीन के स्तर पर इस शताब्दी के अंत तक लाना निर्धारित किया गया।

उपलब्ध सुविधाएँ : मध्यप्रदेश में यह कार्यक्रम 1978 से प्रभावशाली किया गया और इस हेतु सुविधाएँ सुलभ कराई गईं। इसके बावजूद मध्यप्रदेश के लिए उपलब्ध सुविधाओं की स्थिति इस प्रकार है :-

1. कुल बिस्तरों की संख्या- 1785, 2. विशेष नेत्र चिकित्सक- 271, 3. चलित केन्द्रीय नेत्र रोग इकाइयाँ- 114, चलित नेत्र रोग इकाइयाँ- 225, आदिवासी जिलों में उपलब्ध सुविधाएँ- (अ) चार आदिवासी जिलों की कुल 67 लाख जनसंख्या में 80 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासी है, परन्तु बिस्तरों की संख्या 40 है। (ब) बंस्तर जिला जिसकी जनसंख्या 22 लाख है और केरल राज्य से भी बड़ा है, वहाँ बिस्तरों की संख्या केवल 20 है।

वर्तमान कार्य का मूल्यांकन : (अ) राष्ट्रव्यापी अभियान और बाद में विश्व बैंक की परियोजना प्रभावशाली करने के बावजूद प्रति वर्ष 1 लाख से 1.25 लाख ऑपरेशन किए जा रहे हैं। विश्व बैंक की परियोजना के प्रभावशाली होने से पहले भी ऑपरेशनों की संख्या इतनी ही थी।

(ब) आदिवासी जिलों में इन जिलों की अपेक्षा का केवल 50 प्रतिशत से भी कम कार्य ही हो पा रहा है। 1991-92 के आँकड़े हैं- 48.67 प्रतिशत इसका मुख्य कारण है अपर्याप्त सुविधाएँ, जिसके फलस्वरूप बकाया कार्य संचित होता जाता है।

(स) प्रस्तुत आँकड़े भी भ्रामक होते हैं, क्योंकि प्रस्तुतीकरण करते समय कभी-कभी

उनका द्विगुणीकरण हो जाता है। यदि उस तथ्य को ध्यान में रखा जाए तो ऑपरेशनों की संख्या में प्रतिवर्ष लगभग 25,000 कमी हो जाएगी।

2. यह परिदृश्य इस बात को रेखांकित करता है कि इस परियोजना का शीघ्रता से क्रियान्वयन हो। इस हेतु आदिवासी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ सुविधाएँ नगण्य सी हैं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

वित्तीय संसाधनों की कमी को दृष्टिगत रखते हुए ही विश्व बैंक ने इस मानवीय समस्या के निराकरण के लिए अंधत्व नियंत्रण परियोजना के अंतर्गत सहायता दी है ताकि सन् 2000 तक 1.25 लाख मोतियाबिन्द के ऑपरेशन किए जा सकें और छह वर्ष की अवधि में पिछला बकाया कार्य भी निपटाया जा सके, परन्तु वर्तमान कार्यप्रणाली से इस लक्ष्य को पूरा करना असंभव ही है।

वर्तमान समितियों का गठन : विश्व बैंक की परियोजना के अन्तर्गत प्रत्येक जिले में इस योजना के क्रियान्वयन के लिए कलेक्टर की अध्यक्षता में समिति गठित की गई है।

3. प्रत्येक समिति के लिए एक समन्वयक भी नियुक्त किया गया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बिना समन्वयकों की योग्यता और उपयोगिता देखे नियुक्तियाँ औपचारिकता निभाने तथा अपने-अपने लोगों को लाभ पहुंचाने के लिए की गई हैं, जो मुख्यतः राष्ट्रपति शासन की अवधि में हुई हैं और यह क्रम अभी भी सतत् है। इन नियुक्तियों में भी पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद की गंध आती है। उदाहरण के तौर पर वेटरनरी डॉक्टर जिला चिकित्सालय का सेवानिवृत्ति प्रशासकीय अधिकारी, उप जिलाध्यक्ष, स्त्री रोग विशेषज्ञ इत्यादि समन्वयक बनाए गए हैं, जिनका इस कार्य में दूर-दूर तक कोई सरोकार नहीं रहा है। वे इस कार्य के लिए 5000/- रुपए प्रतिमाह प्राप्त कर रहे हैं (अन्य शासकीय सुविधाओं के अलावा)। इस प्रकार की नियुक्तियाँ लगभग सभी जिलों में की गई हैं। इस प्रकार की गई नियुक्तियाँ अलग से एक जाँच का विषय हो सकता है।

प्रस्तावित उपाय : राज्य को क्षेत्रवार तीन श्रेणियों में बांटा जाना चाहिए (अ) आदिवासी (ब) ग्रामीण तथा (स) नगरीय।

4. आदिवासी ग्रामीण और वे क्षेत्र जहाँ असंतोषजनक कार्य हुआ है, को सुविधाएँ उपलब्ध कराने में सर्वोच्च प्राथमिकता देने के साथ लक्ष्य प्राप्ति के प्रयास होने चाहिए। राज्य के 45 जिलों को 5 मंडलों में विभक्त किया जाए। प्रत्येक मण्डल में 9 जिले रखे जाएं। (ब) वर्तमान जिला समितियों को तत्काल भंग कर दिया जाना चाहिए। (स) पुनर्गठित समितियों में

राज्य शासन जिले में पदस्थ प्रथम श्रेणी नेत्र रोग विशेषज्ञ को समन्वयक बनाया जाए । (द) जिला समिति का अध्यक्ष संसद सदस्य हो तथा सचिव जिला कलेक्टर, सामाजिक तथा स्वयं-सेवी संगठनों के प्रतिनिधि उनके पूर्व कार्य के आधार पर समिति में सम्मिलित किए जाएं, पर इनकी संख्या सात से अधिक न हो । (इ) प्रत्येक मंडल के लिए भी समिति नियुक्त की जाए, जिसका अध्यक्ष संभाग आयुक्त हो । संयुक्त संचालक स्वास्थ्य को उसका सचिव बनाया जाए । प्रत्येक जिला समिति में से एक अशासकीय सदस्य को भी इस समिति में सम्मिलित किया जाए । (फ) अक्टूबर से मार्च तक प्रत्येक माह कार्य की नियमित समीक्षा की जाए । अप्रैल से सितम्बर के बीच प्रति हर तीसरे माह समीक्षा हो और भविष्य में कार्य का केलेण्डर भी बनाया जावे । (अभी तक यह कार्य नहीं हुआ है ।) (ज) जब तक स्थाई व्यवस्था ना जुटा ली जाए तब तक मेडिकल कॉलेजों की चलित इकाइयाँ आदिवासी जिलों में स्थानांतरित की जाएं । (च) आदिवासी जिलों को सक्षम नेत्र शल्य चिकित्सकों की सेवाएं प्रदान करने हेतु विशेष कार्य योजना बनाई जाए । योजना ऐसी हो कि क्षेत्रों को नियमित आधार पर लाभ मिलता रहे परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाए कि चिकित्सकों को भी असुविधा न हो । (छ) प्रत्येक नेत्र शल्य चिकित्सक के लिये व्यक्तिगत रूप से एक वर्ष में 1 हजार इंद्रा आक्यूलर ऑपरेशन करने का लक्ष्य निर्धारित किया जाए । इस प्रकार प्रतिवर्ष 2.5 लाख ऑपरेशन का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है । (ड) जिला समितियों के गठन तथा समन्वयकों की नियुक्ति की पद्धति बदलने से प्रतिवर्ष लगभग 2.5 लाख रुपए से अधिक की बचत होगी । यह राशि इस कार्य योजना हेतु सुविधाएं बढ़ाने में लगाई जा सकती है । (ढ) यह एक अति विशाल कार्य है, जिसके क्रियान्वयन के लिए एक निश्चित कुशलता, तकनीकी, ज्ञान, प्रतिभा, गतिशीलता, प्रबंधकीय क्षमता, कार्य सामर्थ्य और कार्य निष्पादन कराने की योग्यता की आवश्यकता होगी । यदि वर्तमान उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग किया जाता है और समग्र कार्यों पर संयुक्त निगरानी रखी जाती है तो निश्चय ही निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होगी साथ ही मानवशक्ति बढ़ाने, सुविधाएँ प्रशिक्षण कार्यक्रमों को उन्नत करने और शल्य चिकित्सकों को एक्स्ट्रा केप्सुलर ऑपरेशन करने की कार्य प्रणाली में प्रशिक्षण देने की कार्यवाही करना होगी । इस कार्य का दायित्व एक वरिष्ठतम नेत्र शल्य चिकित्सक को पूर्ण कालिक रूप से सौंपा जाए । (जिसका व्यक्तिगत या परंपरागत और कोई कार्य न हो) ताकि वह मण्डल स्तर की समितियों के सामने आने वाली कठिनाइयों का निराकरण भी तत्काल उसी समय कर सके और उन्हें मार्गदर्शन दे सके । ऐसे व्यावसायिक अनुभवी व्यक्ति को न केवल नेत्र शल्य चिकित्सकों का सहयोग मिल सकेगा, वरन उसे नेत्र शिविरों में सक्रिय स्वयंसेवी और सामाजिक संस्थाओं की सहायता भी मिल सकेगी । इन क्षेत्रों में ऐसी संस्थाओं की सहायता भी मिल सकेगी । जिन क्षेत्रों में ऐसी संस्थाएं न हो या निष्क्रिय हों, वहां जिला रेडक्रॉस सोसायटी की सेवाएं प्राप्त की जा सकती हैं । इस कार्य की जवाबदेही वाला व्यक्ति किसी प्रकार की निजी प्रेक्टिस भी न करे,

ऐसा प्रतिबंध आवश्यक है। प्रशासकीय अनुभव से लालफीताशाही की समस्या से भी निजात पाया जा सकेगा।

उचित क्रियान्वयन के अभाव में इतने विशाल खर्च के बाद भी देश की ग्रामीण तथा आदिवासी जनता, जिनके कल्याण की आजं दुहाई दी जा रही है, उनके कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी।

खण्ड तीन

विकलांगता



1. धूल खाता विकलांग अधिनियम ।
2. दृष्टिहीनों को उपलब्ध सुविधाएं - पुर्नविचार आवश्यक ।
3. विकलांग महिलाओं की सुध लीजिये ।
4. दृष्टिहीनों की शिक्षा एक अहम मुद्दा ।
5. दृष्टिबाधित विकलांगता के कारण, पहचान एवं रोकथाम
6. अल्प दृष्टि उपचार केन्द्रों की आवश्यकता ।
7. विकलांगों की उच्च शिक्षा में प्रौद्योगिकी का महत्व ।
8. विकलांग वर्ग पुनर्वसन-जनशक्ति वृद्धि- कुछ उपाय ।
9. विकलांग वित्त विकास निगम, पवित्र उद्देश्य, प्राप्ति कठिन ।
10. दिशाहीन स्वयंसेवी संगठन ।



धूल खाता : विकलांग अधिनियम - 96

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 41 और राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में यह समुचित रूप से उल्लेखित है कि राज्य अपनी आर्थिक हैसियत के अनुरूप विकास करेगा और ऐसे प्रभावशील कदम उठाएगा जिससे आम जनता के काम करने की आजादी, शिक्षा प्राप्ति का अधिकार मुखर होंगे और विशेष रूप से अपंग नागरिकों को सहायता देना संभव हो सकेगा परन्तु अनेक कारणों से, जैसे दुर्घटनाएं, काम के दौरान खतरे, प्रदूषण, कुपोषण और आबादी के विस्फोट की वजह से दिनोंदिन अपंगों या विकलांग नागरिकों की संख्या में इजाफा हो रहा है। कल्याणकारी योजनाएं भी आशाजनक रूप से क्रियान्वित नहीं हुई हैं।

इस समस्या की गंभीरता व विशालता पर नजर डालें तो पता चलता है कि विकलांगों हेतु आज एक समुचित नीति की आवश्यकता है ताकि उसके माध्यम से कार्यक्रम को योजनाबद्ध स्वरूप प्रदान किया जा सके और प्राथमिकताओं एवं स्रोतों को दृढ़ता से निश्चित कर सकें। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में अभी तक इसे शुमार नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में केन्द्र व राज्य सरकारों ने जो भी किया है, वो तदर्थ आधार पर हुआ है। यह भी योजना की समयावधि के बीच हुआ है जिसमें गैर सरकारी संगठनों ने भी भाग लिया है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ, एशिया एवं प्रशांत की अंधत्व निवारण जनरल कौंसिल और एशिया में अंधत्व के लिए जो भी सम्मेलन हुए हैं उनमें समय-समय पर विकलांगों की स्थिति को सुधारने और उनके लिए कल्याणकारी योजनाओं पर चर्चा हुई है। जमीन पर क्रियान्वयन नहीं के बराबर है।

इस संबंध में जो उल्लेखनीय बात हुई है वह एशिया एवं प्रशांत की आर्थिक व सामाजिक कमेटी की मीटिंग में जो पेईचिंग में दिसम्बर 1992 में आयोजित हुई थी और जिसने विकलांगों को सहायता हेतु एशिया एवं प्रशांत दशक 1991-2002 का नारा दिया, और सभी से आव्हान किया कि विकलांगों को सभी क्षेत्रों में समान दर्जा दिया जाए। इस घोषणा पर भारत के प्रतिनिधि ने भी हस्ताक्षर किए थे। इस घोषणा के पश्चात और अन्य समितियों, जिसमें बेहरूल इस्लाम समिति भी शुमार है, की सिफारिश पर संसद द्वारा कानून बनाया गया जो विकलांग (अधिकारों के संरक्षण एवं समान सुविधाएं) अधिनियम 1995 के नाम से जाना गया। इसे संसद द्वारा पारित करने के पश्चात राष्ट्रपतिजी ने इस पर स्वीकृति 1 जनवरी 1996 को दी जिसका विकलांगों ने विशेष तौर पर और राष्ट्र ने आमतौर पर नव वर्ष की भेंट के रूप में स्वागत किया। यह प्रोत्साहित करने वाली बात है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री ने अपने स्वतंत्रता दिवस के 15 अगस्त 1996 के भाषण में विकलांगों की समस्याओं को संदर्भित किया। इससे विकलांगों के मन में नई आशा

का संचार हुआ। चूंकि प्रेस में इस संबंध में ज्यादा जानकारी प्रकाशित नहीं हुई है, इसलिए इसके मुख्य तत्वों को उल्लेखित करना जरूरी है :

(1) विकलांगता की परिभाषा में अंधत्व, कमजोर नजर, कोढ़, मूकबधिर, वाहन की चोट से विकलांगता, मानसिक रोग एवं मस्तिष्क की मन्दता को शुमार किया गया है।

(2) इस कानून को लागू करने के लिए अनेक समितियां गठित की गई हैं। सबसे शिखर पर केन्द्रीय समन्वय समिति है जिसका कार्य विकलांगता की राष्ट्रीय स्तर पर देख-रेख करना और विकलांगों की समस्याओं के प्रति सजग रहना है। इस समिति में केन्द्रीय कल्याण मंत्री तथा राज्यमंत्री के शरीक होने की व्यवस्था है जो समिति के क्रमशः अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष की हैसियत से काम करेंगे। इसमें अन्य पदाधिकारी भी शरीक हैं, जिनमें तीन सांसद, केन्द्र सरकार के 12 प्रतिनिधि, जो (अ) राज्य सरकारों (ब) अशासकीय स्वैच्छिक संगठनों से होंगे और (स) 21 सदस्य जो कि भारत सरकार के सचिव स्तर के होंगे और केन्द्रीय सरकार के संबंधित विभाग के विभागाध्यक्ष भी इसमें शुमार किए गए हैं। इस समिति में मुख्य आयुक्त (विकलांग) की नियुक्ति की भी व्यवस्था है। राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं से चार निर्देशकों को भी इसमें शुमार किया गया है जिसमें (1) अंधत्व, (2) मन्द-मस्तिष्क (3) शारीरिक विकलांग एवं (4) बधिर क्षेत्र के निदेशालयों से चयन की बात शुमार की गई थी और ये निदेशालय क्रमशः देहरादून, सिकन्दराबाद, कलकत्ता और मुम्बई में स्थित हैं। इस तरह इसमें लगभग 40 सदस्यों की व्यवस्था है।

(3) केन्द्रीय स्तर पर जिस दूसरी समिति की बात की गई थी वो केन्द्रीय क्रियान्वयन समिति से संबंधित थी। इसका अध्यक्ष भारत सरकार के कल्याण मंत्रालय के सचिव स्तर का होने की व्यवस्था थी और 21 अन्य अधिकारी जो विभिन्न विभागों का प्रतिनिधित्व करते हों, इसमें शुमार किये गये थे। इसमें विभागाध्यक्ष भी शामिल किए गए थे। कुछ सदस्य मनोनीत भी किये गये थे जो कि राज्य सरकारों व गैरशासकीय संगठनों से थे। यह समिति केन्द्रीय समन्वय समिति की क्रियान्वयन समिति के रूप में काम करने के लिए गठित की गई थी जिसका उत्तरदायित्व समन्वय समिति के निर्देशों को अमल करना था। केन्द्रीय क्रियान्वयन समिति को यह अधिकार दिया गया था कि वो किसी भी व्यक्ति को अपने कार्य या परामर्श के स्तर पर जोड़ सकती है।

(4) जहां तक राज्यों का सवाल है प्रशासनिक व्यवस्था की प्रणाली वही है, जैसी कि केन्द्रीय स्तर पर है- जिसमें राज्य स्तरीय समन्वय समिति और राज्य स्तरीय क्रियान्वयन समिति। पहली समिति में समाज कल्याण मंत्री अध्यक्ष होता है और राज्यमंत्री उपाध्यक्ष। इसमें तीन विधानसभा सदस्य और आठ नामांकित सदस्य होते हैं जिन्हें सरकार विकलांगों से संबंधित संगठनों से मनोनयन करती है। 15 अन्य अधिकारी रहते हैं जिसमें संबंधित विभाग के सचिव भी होते

हैं और विकलांगों की समस्या के लिए एक आयुक्त भी नियुक्त करना होता है। इस तरह समिति में 28 सदस्य होते हैं। राज्य स्तरीय समन्वय समिति का मूल उद्देश्य, केन्द्रीय समन्वय समिति की तरह, विकलांगों की समस्याओं को रेखांकित करना और विस्तृत नीति-निर्धारण करना है जिससे विकलांगों के समस्या-निवारण में आसानी हो सके।

(5) जहां तक राज्य की क्रियान्वयन समिति का सवाल है राज्य सरकार के समाज कल्याण विभाग के सचिव इसके अध्यक्ष होते हैं और दूसरे सदस्यों में (1) पाँच सदस्य विकलांगों से संबंधित गैरशासकीय संगठनों के होते हैं और (2) विकलांगों के लिए आयुक्त सहित 11 सदस्य संबंधित विभागों के होते हैं और एक सदस्य राज्य सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। इस तरह 18 सदस्य होते हैं। कमेटी का मुख्य कार्य राज्य की समन्वय समिति की क्रियान्वयन संस्था के रूप में काम करना और समन्वय समिति के निर्णयों के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व इसी समिति का होता है।

(6) केन्द्रीय एवं राज्य स्तरीय समन्वय समिति के लिए प्रत्येक छह माह में मिलना जरूरी है और दोनों क्रियान्वयन समिति के लिए प्रति तीन माह में मिलना अनिवार्य है।

(7) अधिनियम इस बात को रेखांकित करता है कि क्या कदम उठाने चाहिए जिससे विकलांगता रोकी जा सके और विकलांगों के पुनर्वास हेतु क्या व्यवस्था की जाए। विकलांगता को रोकना और प्राथमिक स्टेज पर ही इसका पता लगाने के लिए सर्वेक्षण, शोध, खोज-बीन, प्रशिक्षण, जनता को शिक्षित करना और उन तौर-तरीकों को प्रोत्साहित करना जिससे विकलांगता को रोका जा सके- ये बातें कार्यक्रम में शरीक हैं।

(8) विशाल स्तर पर अधिनियम में विकलांग बच्चों को औपचारिक व गैर-औपचारिक निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था है। इस संबंध में उन शोध कार्यक्रमों को प्रारंभ करना शरीक है जिनके माध्यम से विकलांगों की शिक्षा व शारीरिक स्तर पर सहायता देने वाले साधन विकसित किए जाएं। इससे विकलांग बालक को शिक्षा में समान अवसर दिया जा सकता है। इसके लिए, शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण संस्थान की भी व्यवस्था है।

(9) अधिनियम में परिवहन की उचित व्यवस्था के भी निर्देश हैं। इसमें पुस्तकों की आपूर्ति, छात्रवृत्ति, पाठ्यक्रम में बदलाव की बात भी कही गई है। ऐसा प्रस्ताव है कि विकलांगों के लिए एक समग्र शिक्षा योजना तैयार की जाए।

(10) अधिनियम में सभी शासकीय शिक्षण संस्थाओं और सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में विकलांगों के लिए कम से कम 3 प्रतिशत सीटों के आरक्षण की व्यवस्था लागू

करने का प्रावधान है ।

(11) विकलांगों के लिए शासकीय सेवा में कुछ पदों के आरक्षण की व्यवस्था है और इस कार्य के लिए विशेष रोजगार दफ्तरों की स्थापना का भी प्रावधान है ।

(12) विकलांगों के लिए प्राथमिकता के आधार पर भूमि के आवंटन की भी योजनाएं हैं । गृह निर्माण, व्यवसाय, स्कूल खोलने, विशेष मनोरंजन केन्द्रों के लिए यह भूमि रियायती दरों पर उपलब्ध कराई जाएगी । साहसी विकलांगों के लिए उद्योग स्थापना हेतु भूमि आवंटन का भी प्रावधान है ।

(13) इस अधिनियम के तहत रेल, सड़क, शासकीय भवनों में विकलांगों की आवाजाही के लिए भेदभावरहित व्यवस्था का प्रावधान भी है ।

(14) मानव शक्ति को विकसित करने के क्षेत्र भी परिभाषित किये गए हैं, जिनमें विकलांगता को रोकना, पुनर्वास, विकास में सहायक उपकरण, काम के लिए योग्य स्थान का चयन और कार्यालय और उद्योगों में उचित बदलाव के सुझाव हैं ।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अधिनियम विकलांगों के लिए एक बहुत बड़ी छलांग है । हालांकि अधिनियम में कुछ खामियां भी हैं जो नीचे उल्लेखित की जा रही हैं :-

(1) प्रतिनिधित्व एवं प्रशासकीय समितियों के गठन में ग्रामीण अंचल का ध्यान नहीं रखा गया है । जन-जाति इलाकों में और दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों में विकलांगों की सहायता के लिए इसमें कोई उल्लेख नहीं है ।

(2) केन्द्रीय एवं राज्य स्तर पर समितियों के संविधान में अधिकारी-वर्ग एवं नौकरशाही का ज्यादा खयाल रखा गया है जबकि इतने विशाल स्तर पर काम करने की उनकी क्षमताएं संदेह से परे नहीं हैं ।

(3) केन्द्र और राज्य के मंत्रियों को समन्वय समिति के अध्यक्ष पद पर मनोनीत करने के लिये कोई आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु क्रियान्वयन समितियों के अध्यक्ष पद के लिए सचिवों का चयन अनेक सुधारों की माँग करता है । विभागीय सचिवों पर अपने काम काज का इतना बोझ है कि वे इस काम के लिए समय व ऊर्जा लगा पाएंगे यह संभव नहीं है । दूसरा इस कार्य के लिए विशिष्ट तरह के अनुभव की जरूरत है जो उनके कार्यालयीन कार्य से भिन्न है । इसके बजाय गैर-शासकीय व्यक्ति जिसको इस क्षेत्र का अनुभव हो, इस काम के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकता है ।

सर्वाधिक गौर करने योग्य जो बात है वह यह है कि अधिनियम अभी तक लागू नहीं हुआ है। एशिया और प्रशान्त की आर्थिक व सामाजिक कमीशन ने 1991 से 2002 का दशक विकलांगों के पूर्ण रूप से समान भागीदारी हेतु तय किया है, परन्तु समय हाथ से निकल रहा है, हालांकि इस कमी और अन्य कमियों को हटाये बिना इस अधिनियम के क्रियान्वयन में सुगमता हासिल करना कठिन है किन्तु इनको दूर करने की प्रतीक्षा करना भी अनावश्यक है। यह और अन्य कमियां जो भी क्रियान्वयन से सामने आवें उन्हें बाद में दूर किया जा सकता है। अच्छे उद्देश्यों को लेकर बनाया गया अधिनियम भी क्रियान्वयन की बाट जोह रहा है।

दृष्टिहीनों को उपलब्ध सुविधाएं - पुनर्विचार, विस्तार, आवश्यक

भारत में दृष्टिहीन लोगों की संख्या के बारे में चिन्ता तथा उनके प्रति लोगों की सहानुभूति प्राचीन काल से चली आ रही है। दृष्टिहीन लोगों की संख्या के बारे में समय-समय पर सर्वेक्षण भी किये गये हैं और आंकड़े भी उपलब्ध हैं। वर्तमान उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार विश्व की दृष्टिहीन लोगों की संख्या का 1/3 भाग भारत में है और विकासशील देशों में भारत प्रथम स्थान पर। इसके अलावा अल्पदृष्टि (लो विजन) वाले व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं है, 4.5 करोड़ है। बार-बार प्रत्येक अवसर पर एक बात रेखांकित होती है कि देश की जनसंख्या का 80 प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों में है और सच भी है। देश में गाँवों की संख्या 500000 है। वैसे तो देश के आजाद होने के बाद लगभग प्रत्येक क्षेत्र में सुधार हुआ है- आवागमन, सड़कें, शिक्षा, जागरूकता, उपलब्ध सुविधाएं वगैरा किन्तु सुधार अपेक्षा से बहुत कम है। इस कमी के कारणों में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार एवं बढ़ती हुई आबादी प्रमुख हैं। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार आज भारतवर्ष में दृष्टिहीन लोगों की संख्या अल्पदृष्टि दोष (लो विजन) वाले व्यक्तियों के अलावा 1.25 करोड़ है। एक सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में दृष्टिहीन 40 वर्ष की आयु से कम जनसंख्या में प्रति एक लाख 10 लोग और 40 वर्ष की अधिक आयु के लोगों में 495। इसी बात को शहरी क्षेत्र के बारे में देखें तो यह आंकड़ा क्रमशः 424 तथा 10 तक बताया गया है। जन्मजात दृष्टिदोष से ग्रसित है और शहरी क्षेत्र में यह संख्या 335 लोगों में 29 है। 4 वर्ष की आयु से कम बच्चों में यह संख्या ग्रामीण क्षेत्र में 39 तथा शहरी क्षेत्र में 25 है। कल्याण मंत्रालय के सर्वेक्षण के अनुसार प्रति एक लाख जनसंख्या में ग्रामीण क्षेत्र में 553 व्यक्ति दृष्टिहीन हैं और शहरी क्षेत्र में 359।

इस समस्या को दृष्टिगत रखते हुए शासकीय स्तर पर समय-समय पर सुविधाएं उपलब्ध कराने के प्रयास किये गये हैं। केन्द्र सरकार के विभिन्न विभागों ने तथा देश की राज्य सरकारों ने सुविधाएं उपलब्ध कराई हैं, यह तो एक सराहनीय प्रयास ही माना जावेगा किन्तु इस पर विचार भी करना आवश्यक है कि क्या उपलब्ध सुविधाएं पर्याप्त हैं। केन्द्र सरकार ने नगरीय विमानन रेल, पोस्ट एवं टेलिग्राफ, दूरसंचार विदेशी डाक सेवा, कस्टम, बैंक शिक्षा तथा शासकीय सेवा में पदों के आरक्षण की व्यवस्था की है। उपरोक्त प्रदत्त सुविधाओं पर एक नजर दौड़ाना प्रासंगिक ही होगा।

हवाई यात्रा :- प्रत्येक दृष्टिहीन व्यक्ति को अन्तर्देशीय यात्रा के लिये आधे दामों पर हवाई यात्रा की सुविधा है किन्तु उनके साथ जाने वाले व्यक्ति को इस तरह की सुविधा नहीं होगी। यदि दृष्टिहीन व्यक्ति अकेला यात्रा करता है तो हवाई जहाज में परिचारिका तथा एयरपोर्ट

पर पी.आर.ओ. या ट्रैफिक अधिकारी उन्हें जहाज तक ले जाने या लाने की सुविधा प्रदान करेंगे। 50 प्रतिशत की छूट की सुविधा वायुदूत हवाई सेवा ने भी दी है अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यात्रा के लिये यह सुविधा केवल सऊदी अरब एयरलाइन्स ने उपलब्ध करायी है। - एयर इंडिया या इंडियन एयर लाइन ने भी नहीं।

रेल यात्रा :- रेल विभाग ने दृष्टिहीन व्यक्तियों की यात्रा पर 25 प्रतिशत दर पर रेल यात्रा की सुविधा प्रदान की है। यह सुविधा दृष्टिहीन तथा उसके साथ जाने वाले सहायक को भी उपलब्ध है। इस सुविधा का लाभ दोनों प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी यात्रा के लिये किया जा सकता है। दृष्टिहीन 5 वर्ष से कम आयु वाले बच्चे के सहायक के रूप में यात्रा करने वाले व्यक्ति को भी यह सुविधा प्राप्त होती है। स्कूली छात्रों के समूह जिनकी संख्या 4 से कम न हो, उनको तो इस सुविधा का लाभ है ही किन्तु दो दृष्टिहीन छात्रों के साथ एक सहायक को निःशुल्क यात्रा का प्रावधान है। 5 से 12 वर्ष की आयु के दृष्टिहीन व्यक्ति को सामान्य किराये के 12.5 प्रतिशत दर पर टिकट उपलब्ध हो सकता है। महानगरीय रेल यात्रा में सीजन टिकट 50 प्रतिशत दर पर दृष्टिहीन तथा उनके सहायक को प्राप्त करने का अधिकार है।

डाक सेवा :- दृष्टिहीनों के लिए साहित्यिक सामग्री अन्तर्देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निःशुल्क ले जाने की व्यवस्था है। दृष्टिहीन लोगों के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं को वायरलेस तथा रेडियो लायसेन्स फी से छूट का भी प्रावधान है। यह छूट हवाई जहाज से जाने वाली सामग्री के लिये उपलब्ध नहीं है। दृष्टिहीन लोगों लिखाई, साउंड, रिकार्ड, डिस्क, फिल्मस, टेप एण्ड आयरस ऑन विच स्पोकन मैसेज एण्ड रिकार्डेड, पर भी डाक की छूट की पात्रता है। दूरभाष पर भी किराये में 50 प्रतिशत की छूट है।

कस्टम्स :- विभाग ने दृष्टिहीन के लिये उपयोग में आने वाली ब्रेल राइटर एवं ब्रेल राइटिंग उपकरण, हेण्ड राइटिंग उपकरण, ब्रेलफ्रेम स्लेट, रायटिंग गाइड्स, स्टायलस, ब्रेल इरेजर, स्क्रीप्ट, छड़ियां, विद्युत उपकरण जैसे - सोलिक गाइड ऑप्टिकल, इनवायरमेन्टल सेन्सर्स, गणित उपकरण जैसे - ट्रेलर फ्रेम क्यूरेथियम, बोलते केलक्यूलेटर, ब्रेल केलक्यूलेटर, जॉमेट्रीकल उपकरण, जैसे कम्बाइण्ड ग्राफ और गणित प्रदर्शन बोर्ड, ब्रेल प्रोटेक्टरस, स्केल्स, कम्पास और स्पर व्हीलस मापने के इलेक्ट्रानिक उपकरण जैसे - कैलिपर्स, माइक्रोमिटरस, कम्पेरेटर्स, गेज गोज ब्लाक्स लेवलस, रूल्स, रूलर्स एवम् यार्ड स्टाक, ड्राफ्टिंग ड्राइंग एडस टेकटाइल डीसप्ले, विशेष प्रकार की दीवाल घड़ी तथा हाथ घड़ियां, पहिये वाली कुर्सी, आयात शुल्क से मुक्त किया है। उसी प्रकार दृष्टिहीन लोगों के हित में कार्यरत संस्थाओं को भी उनकी शिक्षा तथा प्रशिक्षण के लिये उपयोगी उपकरण को आयात करने पर आयात शुल्क से मुक्त किया है।

कस्टम्स विभाग द्वारा पुस्तक तथा पत्रिकाएँ जो कि दृष्टिहीन लोगों के उपयोग की हैं, ऑडियो कैसेट्स-पुस्तकालय या अन्य मान्यता प्राप्त संस्थाओं से प्राप्त करने पर आयात शुल्क से मुक्त रहेंगी किन्तु इस प्रकार आयातित कैसेट्स को संबंधित संस्था को एक साल में लौटाना होगा ।

ब्रेल हाथ घड़ियों में लगने वाले कुछ पुर्जे जो कि इस प्रकार की घड़ियों के लिये आवश्यक हैं, प्राप्त करने के लिये एच.एम.टी. बेंगलूर को सुविधाएं प्रदान की हैं । दृष्टिहीन लोगों को ब्रेल हाथ घड़ियां आयातित करने पर आयात शुल्क से मुक्त रखा है ।

बैंक द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ :- विकलांग व्यक्तियों को अपने जीविकोपार्जन हेतु बैंक से (कंसेशनल) रियायती ब्याज दर पर रुपये 5,500.00 टर्न लोन के रूप में तथा रुपये छः हजार पांच सौ वर्किंग केपिटल के लिये 4 प्रतिशत ब्याज पर मिल सकता है । कुछ प्रयोजनों में यह राशि बढ़ाई भी जा सकती है । यह कर्ज 7 वर्ष के अन्तर से वापस लौटाना होता है । स्वरोजगार योजना के अन्तर्गत 35,000/ तक का कर्ज प्राप्त किया जा सकता है ।

सेवा में आरक्षण :- शासकीय सेवा में उपलब्ध स्थानों में 1 से 3 प्रतिशत स्थान “सी” और “डी” श्रेणी के विकलांगों के लिये आरक्षित किए गए हैं । इसमें से एक प्रतिशत स्थान दृष्टिहीन लोगों के लिए आरक्षित हैं । वैसे दृष्टिहीन तथा अल्पदृष्टि वाले विकलांग व्यक्तियों को शासकीय सेवा में भर्ती होने पर आयु तथा चिकित्सा संबंधी न्यूनतम आवश्यकता में छूट का प्रावधान है ।

आयकर में भी छूट का प्रावधान दिया गया है । दृष्टिहीन विकलांग व्यक्ति अपनी समग्र आय में से 15 हजार कम करने के लिये अधिकृत है ।

कम्पनियों द्वारा डीलरशिप का आवंटन :- पब्लिक सेक्टर आईल कम्पनियों से उपलब्ध सारी डीलरशिप का 7.5 प्रतिशत दृष्टिहीनों तथा आर्थोपिडिकल (शारीरिक रूप से) विकलांग व्यक्तियों के लिये आरक्षित किया गया है ।

शैक्षणिक क्षेत्र :- बच्चों के लिये शैक्षणिक भत्ता केन्द्र सरकार कर्मचारी/अधिकारियों के विकलांग बच्चों के लिये 50 प्रतिशत छात्रवृत्ति के रूप में तथा सामान्य श्रेणी के विकलांग बच्चों को 20 रुपये प्रतिमाह मिल सकता है । जो विद्यार्थी एकीकृत शिक्षा के तहत सामान्य स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते हैं उनको शत-प्रतिशत खर्च की व्यवस्था की गई है । इसके अलावा 9 वीं कक्षा और उसके ऊपर अध्ययन करने वाले विकलांग बच्चों के लिये सामान्य तकनीकी या व्यावसायिक शिक्षा के लिये भी भत्ता दिया जा सकता है । छात्रावास में रहने वाले विद्यार्थियों

को 85 रुपये से लेकर 240.00 रुपये छात्रवृत्ति देने का प्रावधान है। दृष्टिहीन/विकलांग को (रीडर) पढ़ाने वालों के लिये एक अन्य व्यवस्था भी उपलब्ध है जिसके तहत 50 से 100 रुपये देने की व्यवस्था है।

विकलांग व्यक्तियों को जिनके पास ऑटोमोबाइल गाड़ी है उनको रोड टेक्स देने से छूट है और पेट्रोल तथा डीजल में किए गए खर्च का 50 प्रतिशत शासन से प्राप्त करने का अधिकार। अधिक से अधिक 25 लीटर प्रतिमाह तक सुविधा के अन्तर्गत विकलांग व्यक्ति ले सकता है बशर्ते है कि उनकी मासिक आय 2500 से अधिक न हो। विकलांग व्यक्तियों को रुपये 25 से रुपये 3000 तक की कीमत के सहायता उपकरण (एड) मिल सकते हैं बशर्ते उनकी मासिक आय रुपये 2500 से अधिक न हो। इस प्रकार के उपकरण अशासकीय संस्थाओं के माध्यम से मिलने की सुविधा है। विकलांगों को एक अन्य सुविधा के अन्तर्गत वेन्डर्स स्टाल्स तथा छोटी दुकाने भी प्राप्त हो सकती है। राज्य सरकारों ने भी इस क्षेत्र में उदारता के साथ सुविधाएं उपलब्ध कराई है। विभिन्न राज्यों में मिलाकर कुल 23 प्रकार की सुविधाएं दृष्टिहीन लोगों के लिए उपलब्ध हैं। इनमें से सबसे कम गोवा में तथा सबसे अधिक गुजरात में हैं। इन पर एक नजर दौड़ाने से पता लगेगा कि निःशुल्क यात्रा की व्यवस्था तो सारे राज्यों में उपलब्ध है। दृष्टिहीन व्यक्ति से विवाह करने पर आर्थिक सहयोग का प्रावधान केवल आन्ध्रप्रदेश ने किया है। आवासीय मकान या भूमि उपलब्धता में आरक्षण की व्यवस्था आन्ध्रप्रदेश, बिहार, दिल्ली, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र, राजस्थान, पश्चिम बंगाल तथा उत्तरप्रदेश में की गई है।

प्रोफेशनल टैक्स से छूट की सुविधा आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल ने दी है। बेरोजगार भत्ता आंध्रप्रदेश, बिहार, हरियाणा, पंजाब, केरल, उड़ीसा, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल, सिक्किम तथा उत्तरप्रदेश में दिया जाता है। शासकीय सेवा में आरक्षण की भी व्यवस्था कुछ राज्यों बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, केरल, उड़ीसा, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल तथा उत्तरप्रदेश में है। यात्रा भत्ता देने का निश्चय भी बिहार, दिल्ली, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, केरल, मणिपुर, राजस्थान, सिक्किम तथा त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल की राज्य सरकारों ने किया है। पेंशन व्यवस्था में बिहार, गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, नागालैंड तथा पश्चिम बंगाल राज्य अग्रणी है। छात्रावास व्यवस्था केवल दो ही राज्यों ने की है - दिल्ली तथा कर्नाटक। स्वरोजगार योजना भी दिल्ली, कर्नाटक, मध्यप्रदेश (कुर्सी बुनाई) में उपलब्ध।

अवार्ड :- दृष्टिहीनों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से गुजरात, केरल तथा पश्चिम बंगाल राज्यों में विशिष्टता वाले दृष्टिहीनों को अवार्ड पुरस्कार दिये जाते हैं।

रोजगार व्यवस्था के अन्तर्गत गुजरात, कर्नाटक तथा केरल, राज्यों में दृष्टिहीनों के

लिये आरक्षण किया गया है- स्टायपण्ड एवं अन्य कन्सेशन्स भी गुजरात, केरल तथा राजस्थान प्रदेश की सरकारों ने देने का प्रावधान किया है। पंजाब प्रान्त में एक अनूठी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत यदि कोई शासकीय सेवक सेवाकाल में चिकित्सीय आधार पर सेवा समाप्त होने के पूर्व निवृत्त किया जाए तो मानवता के आधार पर (कम्पेशनेट ग्राउण्ड) उसके किसी भी रिश्तेदार को सेवा में रखा जा सकता है। दृष्टिहीन लोगों के लिये आवश्यक उपकरण (एड्स) निःशुल्क देने की व्यवस्था केवल दो राज्यों ने कर्नाटक तथा मध्यप्रदेश ने की है।

निःशुल्क चिकित्सा सुविधा देने का गौरव केवल मध्यप्रदेश को है। राजस्थान सरकार ने ऐसे व्यक्ति को जो सेवाकाल के समय में ही विकलांग हो जाता है उसकी कार्यक्षमता के अनुसार दूसरी प्रकार की जगह देने की व्यवस्था की है। इसके अलावा कुछ राज्यों की सरकारों ने छोटी-मोटी अन्य सुविधा जैसे आई.टी.आई. में आरक्षण, आर्थिक पुनर्वसन, मकान बनाने के लिये कर्ज तथा सबसिडी देने का प्रावधान किया है।

वैसे तो ढेर सारी सुविधाएं केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने उपलब्ध कराई हैं किन्तु प्रश्न इस बात का है इन सारी सुविधाओं की जानकारी कितने विकलांग दृष्टिहीन लोगों को है और क्या इन सुविधाओं को प्राप्त करना आसान है। इससे जुड़ा हुआ प्रश्न भी है। क्या ये सुविधाएं पर्याप्त है ?

इन पर विचार करने के बाद मेरे मतानुसार सुविधाओं में विस्तार की आवश्यकता दोनों स्तर पर है- केन्द्र तथा राज्य सरकार के कार्य क्षेत्र में।

उदाहरणार्थ :- (1) आयकर कानून के अन्तर्गत धारा 36(1) (11ए) को पुनः लागू किया जावे तथा जो भी संस्था, व्यक्ति दृष्टिहीन लोगों को सार्थक रोजगार देता है उसको सम्मानित भी किया जावे। यहां आयकर विभाग के इस विचार पर भी गंभीरता से विचार करना आवश्यक है। कुछ लोग आयकर विभाग को सम्मान पाने के उद्देश्य से असत्य जानकारी देते हैं। वैसे तो कानून के अन्तर्गत दण्ड देने का प्रावधान है, किन्तु इस तरह के समाज सेवियों को क्या दण्ड देना संभव है ?

(2) रेल यात्रा के लिये दृष्टिहीनों तथा उनके सहयोगियों को निःशुल्क यात्रा सुविधा देना आवश्यक है।

(3) हवाई यात्रा के लिये दृष्टिहीन/विकलांगों को निःशुल्क तथा उनके सहयोगियों को 50 प्रतिशत दर पर यात्रा करने की सुविधा होना चाहिए।

(4) राज्य परिवहन तथा निजी बसों में दृष्टिहीन तथा उसके सहयोगियों दोनों को निःशुल्क

यात्रा के लिये अधिकृत किया जाना आवश्यक है ।

(5) जिस प्रकार से शासकीय सेवा में दृष्टिहीनों के लिये एक प्रतिशत स्थान आरक्षित है उसी प्रकार निजी क्षेत्र विशेषकर मध्यम तथा (लार्ज स्केल) बड़े उद्योगों में भी आरक्षण होना उचित होगा ।

(6) बेरोजगारी भत्ते के रूप में प्रत्येक दृष्टिहीन को जब तक रोजगार न मिले 250/- रुपये प्रतिमाह भत्ता देना चाहिए । इसका मतलब यह न हो कि दृष्टिहीन रोजगार प्राप्त करने का प्रयास ही न करें ।

(7) जितने भी सार्वजनिक टेलिफोन बूथ हैं वहां केवल दृष्टिहीन तथा (आर्थोपेडिकल हेण्डीकेप्ड) शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति को आवंटित करने का प्रावधान किया जाये ।

(8) व्यावसायिक एवं मोबिलिटी प्रशिक्षण केन्द्र कम से कम 30 जिलों में एक स्थान पर स्थापित किया जावे । बाद में आवश्यकतानुसार इसका विस्तार किया जा सकता है ।

(9) जो व्यवसाय दृष्टिहीन लोगों के लिये उपयुक्त माना गया है उन पर उपयुक्त दृष्टिहीन लोगों की ही नियुक्ति हो ।

उपरोक्त सुविधाओं के अलावा दृष्टिहीनों के लिये निःशुल्क तथा त्वरित प्रभावी चिकित्सा सुविधा, रहने के हालात में सुधार जैसे मकान, पीने के लिये शुद्ध जल तथा मल निकास की व्यवस्था एकीकृत शिक्षा की नगण्य संभावना हो तो विशेष प्रकार के स्कूल जैसी मौलिक सुविधाएं भी उपलब्ध होना आवश्यक है साथ ही विकलांगता की रोकथाम तथा प्रबंधन के लिये एक राष्ट्रीय नीति का निर्धारण भी होना चाहिए ।

वैसे देखा जाये तो यथासंभव अधिक से अधिक सुविधाएं दृष्टिहीन/विकलांग व्यक्तियों को उपलब्ध कराना एक मानवीय कार्य एवं कर्तव्य है किन्तु इससे जुड़े हुए प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं । सुविधाओं के साथ इन मुद्दों पर भी कार्यवाही आवश्यक है ताकि जिस उद्देश्य तथा लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह सब किया जा रहा है वह प्राप्त हो सके । यह सर्वमान्य बात है कि उपलब्ध सुविधाओं का पूरा लाभ दृष्टिहीनों को नहीं मिल पा रहा है- ऐसा क्यों ? इसके क्या कारण हैं? मेरे मतानुसार हमारे देश में ऐसी कोई एजेंसी नहीं है जो उपलब्ध सुविधाओं का लाभ दृष्टिहीनों तक पहुंचा सके । इससे जुड़ा हुआ प्रश्न भी है । एक ओर तो व्यक्ति दृष्टिहीन है जिसके कारण उसकी मोबिलिटी सीमित है, दूसरी ओर उसे न तो सुविधाओं को प्राप्त करने की प्रक्रिया की जानकारी है और न ही सुविधा प्राप्त करने की क्षमता । अतः आवश्यक है कि

सुविधा प्राप्त करने के लिये उसे दौड़-भाग न करना पड़े बल्कि सुविधा उनके निवास पर उपलब्ध कराई जावे। ऐसी व्यवस्था स्थापित की जावे। एक और प्रश्न है वर्तमान में किसी को मालूम नहीं है कि उपलब्ध सुविधाओं का लाभ कितने व्यक्ति ले पा रहे हैं। इस क्षेत्र के नाम पर कार्यरत कितनी संस्थाएं सक्रिय हैं। शासकीय तथा अशासकीय एवं विदेशों से प्राप्त आर्थिक सहायता का लाभ विकलांग को प्राप्त हो रहा है या उनके नाम पर कार्य करने वाले धंधेबाजों को। क्या यह आवश्यक नहीं है कि इसकी भी गोपनीय जांच कराई जावे। इसका कतई मतलब नहीं कि दृष्टिहीन लोगों की समस्याओं के निराकरण में किसी प्रकार की कोताही बरती जावे। यह भी सुझाव है कि जो सुविधाएं आज सारे राज्यों में मिलाकर दी जा रही हैं वो प्रत्येक राज्य अविलम्ब उपलब्ध करावे। इसमें शासन पर पड़ने वाला खर्च का बोझ अधिक नहीं बढ़ेगा।

इस समस्या से जुड़ा हुआ एक और मुद्दा है- (विकलांग) दृष्टिहीन लोगों की संख्या का। अभी-अभी म.प्र. शासन ने एक सर्वेक्षण कराया है। इसके पीछे उद्देश्य और प्रयास प्रशंसनीय हैं। ऐसे प्रयास सारे राज्यों में या पूरे देश में होना आवश्यक हैं। म.प्र. शासन बधाई का पात्र है। सर्वेक्षण के बारे में भी यह बताना आवश्यक है कि जितने भी सर्वेक्षण करना हो वे एक ही समय आपस में समन्वय स्थापित कर पूरे किये जावें। सर्वेक्षण पाँच वर्ष में एक बार हो ताकि सर्वेक्षण पूरी लगन तथा ईमानदारी से पूरे किए जा सकें- अभी वातावरण ऐसा है कि सर्वेक्षण में बरती गई ईमानदारी भी संदेह के घेरे में है।

इन विषम परिस्थितियों में भी इसी क्षेत्र में अधिक सक्रियता के साथ योजनाबद्ध रूप से युद्ध स्तर पर कार्य करने की आवश्यकता है अन्यथा उनके साथ अन्याय ही होगा और यह वर्ग उपेक्षित ही रहेगा।

विकलांग महिलाओं की भी सुध लीजिये

आज पूरे विश्व में विकलांग महिलाओं की स्थिति दयनीय है। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिये पुरुष तथा महिलाएं समान रूप से दोषी हैं। इस स्थिति के निर्माण में महिलाओं की सहनशीलता, त्याग तथा अन्य गुणों ने महती भूमिका अदा की है। नतीजन आज का पुरुष वर्ग, महिलाओं को दोयम दर्जे का नागरिक समझने लगा और महिलाओं की विशेषकर, विकलांग महिलाओं की स्थिति बद से बदतर हो गई जिसके फलस्वरूप विकलांग महिलाएं धार्मिक एवं भाग्यवादी बन गई हैं। इस स्थिति के निर्माण में उनके प्रति दिखाई जाने वाली अत्यधिक सहानुभूति तथा दया ने भी हालात को अधिक बिगाड़ा। संदेह, अविश्वास, घृणा तथा अपमान भी पुरुष वर्ग, तोहफे के रूप में देता रहा। विकलांगता के फलस्वरूप इस महिला वर्ग को परिवार पर आश्रित होना ही था जिसके कारण अन्याय, कठिनाई, समस्या, दुःखदर्द व्यक्त करने का साहस ही समाप्त हो गया और यह वर्ग संकोच तथा दबाव के वातावरण में रहने का आदी हो गया। विडम्बना ही कही जाएगी कि इस महिला वर्ग की एक ओर ऐसी मानसिक स्थिति तथा दूसरी ओर विकलांगों की संख्या तथा समस्याओं में वृद्धि।

विश्व स्वास्थ्य संघ के एक सर्वेक्षण के अनुसार पूरे विश्व की जनसंख्या का 10 प्रतिशत भाग विकलांग है और इतना बड़ा समुदाय राजनीतिक तथा सामाजिक रूप से अलग-थलग कर दिया गया। इस वर्ग को राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने के अवसर हमेशा नकारे गये, सामाजिक क्षेत्र से भी यह वर्ग प्रतिबंधित सा ही है। इस स्थिति का लाभ उठाने के लिये समाजसेवी संस्थाओं की बाढ़ सी आ गई। ऐसी पंजीकृत संस्थाओं की संख्या 5 लाख है किन्तु कार्यरत केवल 60-65, बाकी संस्थाएं कागजी ही हैं जो कि विकलांगों के नाम पर अनुदान, दान, सहयोग, सहायता प्राप्त करने का पुण्य कमा रही हैं। इन संस्थाओं को आर्थिक सहयोग विदेशों के अलावा केन्द्र एवं राज्य सरकारों, ट्रस्ट, दानदाताओं तथा विकलांग व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति रखने वाले नागरिकों से प्राप्त होता है। वैसे तो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कुल राशि के बारे में कोई अधिकृत जानकारी उपलब्ध नहीं है किन्तु केवल विदेशी सहायता की राशि 2000-3000 करोड़ रुपये अनुमानित है जो देश की 16000 संस्थाएं प्राप्त कर रही हैं। सन् 1993 में इस प्रकार की सहायता के रूप में 273 करोड़ की राशि प्राप्त कर तमिलनाडु ने देश में प्रथम स्थान अर्जित करने का गौरव प्राप्त किया था, 232 करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त कर दिल्ली राज्य को दूसरे स्थान पर रहकर संतोष करना पड़ा। विकलांगों की स्थिति अन्य विकासशील देशों में भी भारत से अधिक भिन्न नहीं हैं। हमारे पड़ोसी देश चीन में विकलांग महिलाओं की संख्या 2.48 करोड़ बताई जाती है जो ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। वहां 1980 में केवल 0.93 प्रतिशत विकलांगों को रोजगार

उपलब्ध था किन्तु स्वयंसेवी संगठनों के दबाव से बदलाव आया- वर्ष 1990 में 1.5 प्रतिशत स्थान विकलांग महिलाओं के लिये आरक्षित किये गये। उसी देश में इस वर्ग को अधिक अवसर दिलाने हेतु उद्योगों को भी राहत दी गई। जिन उद्योगों में 35-50 प्रतिशत विकलांगों को रोजगार दिया जाता है उन्हें आयकर में छूट तथा जिनमें 50 प्रतिशत से अधिक विकलांग कार्यरत हैं उन्हें आयकर मुक्त कर दिया गया। आज की स्थिति में वहां 5 लाख विकलांग स्वरोजगार चलाते हैं जिनमें 50 प्रतिशत महिलाएं हैं। लगभग ऐसी ही स्थिति अन्य देशों में थी। ऐसी स्थिति को बदलने के लिये आस्ट्रेलिया में एक महिला संगठन डब्ल्यू.डब्ल्यू.डी.ए. बना तथा स्वीडन में एस.एच.आई.ए. नामक संगठन के प्रभावी कार्य से स्थिति में अच्छा सुधार हुआ।

हमारे देश में स्थिति दयनीय बनी हुई है। इस क्षेत्र में कार्यरत संस्थाएं केवल पुरुषों द्वारा संचालित हैं। इन संस्थाओं के विधान तथा नियमों में महिलाओं के प्रतिनिधित्व का कोई प्रावधान नहीं है अतः सारे सुख, सुविधा, लाभ तथा अवसर पुरुषों ने हथिया रखे हैं। इसलिए विकलांग महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये विचार-विमर्श के पश्चात कार्यवाही आवश्यक है। सामान्य महिला वर्ग जिसकी स्थिति भी संतोषजनक नहीं है, ने संगठित होकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के प्रयास आरंभ किये हैं। इन प्रयासों के अन्तर्गत 1976, 1980 तथा 1985 में संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से क्रमशः मेक्सिको, कोपनहेगन तथा नैरोबी में सम्मेलन आयोजित किये गये। 1995 में विश्व स्तरीय चतुर्थ महिला सम्मेलन का आयोजन बीजिंग में कर कुछ नीति निर्णय भी लिये जैसे सत्ता में समान भागीदारी, शान्ति को प्रोत्साहित करना, महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करना और महिलाओं की नई पीढ़ी को बराबरी और समदृष्टि हेतु एक साथ काम करने के लिये प्रेरित करना इत्यादि। हालांकि उपरोक्त निर्णय पूरे महिला वर्ग (जिसमें विकलांग महिलाएं भी हैं) के लिए है किन्तु यह भी कटु सत्य है कि जो अधिकार शिक्षित तथा आर्थिक दृष्टि से सक्षम महिला वर्ग प्राप्त करने में सफल न हो पाया वो उपेक्षित विकलांग महिला वर्ग जिसमें शिक्षा तथा आत्मविश्वास की कमी है- कैसे प्राप्त कर सकेगा, यह लगभग असंभव ही है। ऐसे प्रयास अन्य स्तरों पर भी हुए हैं जैसे- पर्यावरण एवं विकास सम्मेलन 1992, मानवाधिकार 1993 (वियेना) तथा कैरो में जनसंख्या पर आयोजित सम्मेलन 1994 में भी लगभग इसी प्रकार के निर्णय लिये गये। इस तरह के वातावरण के बाद भी भारतवर्ष आज एक पाखंड के दौर में है। इस वातावरण के अन्तर्गत विकलांगों के कल्याण की चर्चा करना राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में कार्यरत अग्रणी व्यक्तियों की प्राथमिकता है। इस विषय पर चर्चाएं आयोजन, उपदेश, भाषण तथा प्रदर्शनी की बाढ़ सी आ रही है। अधिनियम भी बनाया गया है। पूर्व प्रधानमंत्री श्री देवेगौड़ा तो सन् 1996 के 15 अगस्त के भाषण में इसकी चर्चा करने से नहीं चूके। समाचार-पत्रों को विज्ञापनों से पाटा गया किन्तु परिणाम जनता के सामने है। इसका एक दृश्य पिछले

दिनों केन्द्रीय कल्याण मंत्री द्वारा एक निजी चैनल को दिनांक 12.7.97 को दिये गये साक्षात्कार में देखने को मिला (यह वरिष्ठ नागरिकों से संबंधित था), अतः यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने हेतु यह एक सस्ता तथा सुन्दर माध्यम बन गया है।

महिलाओं हेतु एक और प्रयास जो चर्चित है- वह विधानसभाओं तथा लोकसभा में महिला वर्ग के आरक्षण से संबंधित है। आज का पुरुष प्रधान समाज जब भी इस प्रयास को असफल बनाने के प्रयास में असफल हो जावे तब क्या वह विकलांग (विशेषकर दृष्टिहीन) महिलाओं के लिये आरक्षण के बारे में विचार करने का साहस दिखायेगा।

जब पूर्व में प्रभावशाली सत्ताधारी महिलाएं जैसे श्रीमती इंदिरा गांधी, भंडारनायके, मार्गरेट थैचर, बेनजीर भुट्टो ने भी इस विषय पर कुछ कार्यवाही करने का विचार ही नहीं किया तो वर्तमान नेतृत्व से क्या अपेक्षा की जा सकती है ?

इस दिशा में निष्क्रियता के आरोप से संयुक्त राष्ट्र संघ भी मुक्त नहीं है। इस महान संस्था ने मानवाधिकार एवं मनुष्य जाति की शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सामाजिक सेवा के बारे में कानूनी प्रावधान की बातें तो सुनहरे शब्दों में व्यक्त की हैं किन्तु दृष्टिहीन तथा अन्य विकलांग महिलाओं के बारे में स्थिति एकदम भिन्न है। फिर भी इस अंतर्राष्ट्रीय महत्वपूर्ण संगठन की भूमिका को नकारा भी नहीं जा सकेगा। इसके द्वारा किये गये प्रयासों में महिला विकास के लिये प्रायोजित निधि जो कि सामान्य रूप से “युनीफेम” के नाम से जाना जाता है- एक गंभीर प्रयास है। यह संगठन विश्वस्तरीय नीति निर्धारण करने वालों तथा गरीब देशों की गरीब संघर्षरत महिलाओं के बीच एक सेतु का कार्य कर रहा है। सन् 1996 में युनीफेम तथा “डिसेबल्ड परसन्स इन्टरनेशनल” के बीच न्यूयार्क में आयोजित चर्चा में क्षेत्रीय कार्यक्रमों में विकलांग महिलाओं की ओर ध्यान देने का निर्णय लिया गया। इन सब स्थितियों पर गंभीर विचार करने से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि युद्ध स्तरीय प्रयासों के माध्यम से बेकाबू स्थिति पर काबू पाया जा सकता है। सबसे कठिन किन्तु आवश्यक एवं महत्वपूर्ण पहलू है- विकलांग महिलाओं के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन का। इसके लिये सबसे महत्वपूर्ण भूमिका विकलांग महिलाओं को एक सशक्त संगठन के माध्यम से निभानी होगी जो समाज पर सतत् दबाव बनाये रखे जैसा कि पूर्व में आस्ट्रेलिया में किया गया था। इसके अतिरिक्त आवश्यक प्रयास तीन स्तर पर किये जावें-

- (1) राजनीतिक (2) प्रशासनिक (3) स्वयंसेवी एवं सामाजिक संस्थाओं के स्तर पर।

इन प्रयासों के अन्तर्गत विकलांग महिलाओं की कार्यक्षमता की जानकारी जनसाधारण को मिले ऐसी व्यवस्था से, कार्यक्षेत्र के वातावरण में सुधार-दुर्भाग्यवश वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्ति विकलांग नहीं है वरन् वातावरण ही विकलांग हो गया है। शैक्षणिक तथा रोजगारोन्मुखी

कार्यों में प्रशिक्षण, विशेष रोजगार केन्द्र की स्थापना इत्यादि से विकलांग महिलाओं की दयनीय स्थिति में परिवर्तन हो सकेगा। इस तरह के प्रयासों में सबसे अधिक प्रभावी भूमिका समाचार-पत्र तथा दूरदर्शन की है। इन प्रयासों के अलावा निम्नांकित परिवर्तनों तथा प्रावधानों से वातावरण में अल्प समय में सुधार होगा :-

(1) विकलांगता के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं के विधान तथा नियमों में परिवर्तन कर विकलांग महिलाओं के प्रतिनिधित्व के प्रावधान का समावेश।

(2) उपरोक्त व्यवस्था अन्य महिला संगठनों में भी होने पर समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन तात्कालिक हो सकेगा।

(3) विकलांगता के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं के सदस्यों के लिये भी मापदंड निर्धारित किये जावे ताकि आर्थिक लाभ कमाने की दृष्टि से गठित संस्थाओं पर अंकुश लग सकें। इस दृष्टि से भी विकलांग महिलाओं को आगे लाना श्रेयस्कर होगा।

(4) विकलांगता के क्षेत्र में कार्य करने के लिये संस्थाओं की संख्या भी निर्धारित की जावे जिसका आधार क्षेत्रफल, जनसंख्या तथा विकलांगों की संख्या हो।

(5) विधानसभा, लोकसभा या अन्य प्रतिनिधित्व संस्थाओं में महिला वर्ग के आरक्षण के समय विकलांग महिलाओं के प्रतिनिधित्व का प्रतिशत निर्धारित किया जावे। आज ब्रिटेन के मंत्रिमंडल में एक जन्म से दृष्टिहीन व्यक्ति मंत्री के रूप में सुचारु रूप से कार्यरत हैं। भारतवर्ष में भी स्व. श्री यमुनाप्रसाद जी शास्त्री ने दृष्टिहीन होने के बावजूद सांसद तथा अन्य जवाबदारियों को पूरी तत्परता से निभाया था।

(6) राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा अन्य क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों में भी विकलांग विशेषकर महिलाओं को रोजगार उपलब्ध कराने तथा अन्य समस्याओं के निराकरण हेतु कार्यक्रम सम्मिलित किये जावें। ये राजनीतिक दल चुनावों के लिये उन्हीं व्यक्तियों को प्रत्याशी बनावें जिन्होंने इस क्षेत्र में सक्रिय तथा पारदर्शी रूप से कार्य किया हो।

इस तरह के एवं अन्य उपायों पर विचार - विमर्श के लिये केन्द्रीय कल्याण मंत्रालय को तत्काल चर्चा आयोजित कर निर्णय लेना चाहिये। केवल निर्णय से काम नहीं चलेगा। लिये गये निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये कोई व्यवस्था भी करना होगी अन्यथा विकलांग महिलाओं के श्राप से हम लोग नहीं बच सकेंगे।

दृष्टिहीनों की शिक्षा एक अहम मुद्दा

दृष्टिहीनों की दयनीय स्थिति से समाज अनादिकाल से चिंतित एवं संवेदनशील रहा है किन्तु इस स्थिति को सुधारने की दृष्टि से साहित्य का प्रकाशन सन् 1646 से प्रारंभ हुआ जब इटली में ही जैसुयिट लाना टर्जिया द्वारा लिखित इंस्ट्रक्शंस ऑफ द ब्लाइंड-दृष्टिहीनों का शिक्षण नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इसके बाद इंग्लैंड में सन् 1690 में एक दार्शनिक जॉन लौक ने एक लेख “ऐसे कनसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग” तथा विशप बार्कले ने “ऐसे टूवर्ड्स ए न्यू थ्योरी ऑफ विजन” लिखा। इन प्रयासों से दृष्टिहीन व्यक्तियों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया गया किन्तु इसी प्रकार का एक और प्रयास डेनिस डिडिरो ने 1749 में लिखे एक लेख के माध्यम से किया जिसमें दृष्टिहीन व्यक्तियों की बुद्धिमत्ता, कार्यक्षमता और शेष इंद्रियों की कुशलता को रेखांकित किया गया साथ ही समाज से इन लोगों को दयनीय स्थिति से निकालने तथा उनके प्रति कर्तव्य निभाने के लिए आव्हान किया जिसका शीर्षक था - “लेटर आन द ब्लाइंड फॉर दोज हू सी” उन्होंने कहा- “दृष्टि के अभाव में दृष्टिहीनों की शेष इंद्रियां अधिक सूक्ष्म नहीं बन पातीं अपितु दृष्टिहीनता उन्हें अपनी शेष इंद्रियों के अधिक प्रयोग के लिये बाध्य करती है। परिणामस्वरूप वे अवश्य अधिक कार्यक्षम और कुशल बन जाती हैं। जो कुछ दृष्टिवंचित व्यक्ति के पास है, उसके आधार पर उसे शिक्षण दिया जाना चाहिये, न कि जो कुछ उसका खो चुका है उसकी चिंता करनी चाहिये। सबसे अधिक महत्व इस बात पर दिया जाना चाहिये कि दृष्टियुक्त समाज के साथ उनका अधिक से अधिक और सक्रिय संबंध बना रहे।”

इस लेख ने न केवल बुद्धिजीवी व्यक्तियों में चेतना जाग्रत की वरन् पूरे समाज को ही झकझोर कर रख दिया।

इन सबसे दृष्टिहीन व्यक्तियों के लिए आवश्यक शिक्षण युग का प्रारंभ हुआ। इस कड़ी में सर्वप्रथम 1784 में पेरिस में एक अंध पाठशाला की स्थापना हुई। इससे दृष्टिहीन व्यक्ति को भी शिक्षित कर समाज के लिए उपयोगी तथा सहभागी सदस्य बनाने का विचार भी विकसित हुआ। यह क्रांतिकारी विचार भी डिडिरो के लेख की ही देन थी। पूरे पाश्चात्य जगत में अंध पाठशालाओं की स्थापना होने लगी जिसके फलस्वरूप इंग्लैंड, वियेना, जर्मनी, स्पेन तथा अन्य देशों में भी अंध पाठशालाओं की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसे दृष्टिहीन व्यक्तियों के लिए शिक्षण व्यवस्था का एक स्वर्ण युग माना जाना चाहिये और एक नया विचार अंध बालक भी शिक्षित हो सकते हैं ने गति लेना प्रारंभ कर दी। भारतवर्ष भी इस विचार से प्रभावित हुआ। 1887 में देश में प्रथम अंध पाठशाला की स्थापना से पंजाब के पवित्र शहर अमृतसर ने यह

गौरव प्राप्त किया - जिसका नाम “द नार्थ इंडिया इंडस्ट्रियल स्कूल फॉर क्रिश्चियन ब्लाइंड” था जिसे बाद में देहरादून में स्थानांतरित किया गया और नाम भी परिवर्तित हुआ जो शार्प स्मारक अंध पाठशाला के नाम से जाना जाने लगा। उसके बाद 1890, 1894, 1895, 1898 तथा 1900, 1902 में क्रमशः पालमकोटा, कलकत्ता, अहमदाबाद, रांची तथा मुम्बई में इसी प्रकार की पाठशालाएं स्थापित हुईं। आज पूरे देश में केवल 250 के लगभग शैक्षणिक संस्थाओं में दृष्टिहीन बालकों की शिक्षा देने की व्यवस्था है। इस संख्या में वृद्धि की आवश्यकता है। प्रत्येक राज्य के प्रत्येक जिले में इस प्रकार की एक संस्था की आवश्यकता को लम्बे समय तक नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

इस वातावरण में स्वाभाविक रूप से दृष्टिहीन विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तकें तथा अन्य सामग्री की उपलब्धता पर ध्यान आकर्षित हुआ। इस समस्या के निराकरण के लिए ब्रेल प्रेस स्थापित होने लगे जो प्रारंभ में देहरादून में स्थापित हुआ। इसके अलावा आज पूरे देश में लगभग 15 और ब्रेल प्रेस ही विभिन्न शहरों में स्थापित हो पाये। मध्यप्रदेश में भी बिलासपुर में एक ब्रेल प्रेस है जो कि पुराना है और अधिक आयु के कारण बीमार ही रहता है। दृष्टिहीन छात्र-छात्राओं के लिए वर्तमान में अन्य शैक्षणिक सामग्री भी 10 से अधिक स्थानों पर उत्पादित नहीं होती जिसमें प्रमुख हैं देहरादून, हैदराबाद, कानपुर, अहमदाबाद, मेरठ इत्यादि साथ ही दृष्टिहीन विद्यार्थियों को शिक्षित करने के कठिन कार्य के लिये प्रशिक्षित शिक्षकों की भी कमी कम नहीं है। पूर्व में तो इस प्रकार प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या 15 ही थी। जिन्होंने स्वयं के समर्पण, लगन व निष्ठा के स्वरूप इंग्लेण्ड तथा अमेरिका में प्रशिक्षण प्राप्त किया था। किन्तु शनैः शनैः इसका विकास हुआ। फिर भी आज लगभग 20 ऐसे केन्द्र देश में स्थापित हो सके, जहां शिक्षक प्रतिवर्ष तैयार होते हैं। यह संख्या पूर्णतया अपर्याप्त है। मध्यप्रदेश में पूर्व में इस क्षेत्र की ओर ध्यान आकर्षित न होने के कारण एक भी केन्द्र स्थापित नहीं हो पाया।

दृष्टिहीन व्यक्तियों के लिये ब्रेल लिपि ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जो आज से 175 वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई थी। दृष्टिहीनों की शिक्षा के क्षेत्र में जो विकास आज तक हुआ इसका आधार केवल ब्रेल लिपि ही है। इसके उदभव का इतिहास भी कम रोचक नहीं है। तीन वर्ष की आयु में नेत्र ज्योति खोने वाले 1809 में फ्रांस के एक साधारण परिवार में जन्मे लुई ब्रेल ने ब्रेल लिपि का आविष्कार किया था। हालांकि ब्रेल लिपि के उदभव के पूर्व भी आठ अन्य प्रकार की लिपियां प्रचलित थी जैसे डोरी की लिपि (स्ट्रिंग अल्फाबेट्स) हाउई टाइप एवं मून टाइप। किन्तु लुई ब्रेल इन लिपियों से संतुष्ट नहीं थे। अतः 12-13 वर्ष की कम आयु में 1821-1822 में ब्रेल लिपि के आविष्कार का काम प्रारंभ किया जिसकी रूपरेखा 1829 में प्रकाशित कर 1830 में इसका उपयोग होने लगा। दृष्टिहीन लोगों के क्षेत्र में 175 वर्ष पुरानी

ब्रेल लिपि सबसे महत्वपूर्ण उपयोगी एवं सर्वमान्य हो गई। आज भारत में विभिन्न भाषाओं के लिये ब्रेल के विभिन्न स्वरूप और प्रकार तैयार हो गये जैसे- शौरिफ ब्रेल, सिंधी ब्रेल, एसक्विथ ब्रेल, मैसूर ब्रेल, कन्नड़ ब्रेल, शाह ब्रेल, चैटरजी ब्रेल, ओरियंटल ब्रेल एवं छत्रपति/निलकंठ/इंडियन ब्रेल।

इस पृष्ठभूमि में दृष्टिहीन व्यक्तियों की बड़ी संख्या के कारण (विशेषकर कम आयु वाले) पूरे देश का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और एक अधिनियम भी बनाया गया (1995) देश के सबसे बड़े राज्य मध्यप्रदेश के संदर्भ में विचार करें तो सामान्य रूप से यह बात सामने आती है कि वर्तमान राजनैतिक नेतृत्व ने इस दिशा में पहल की है, अधिनियम के क्रियान्वयन का कार्य भी प्रारंभ हुआ है। समन्वय समिति भी गठित कर दी गई है किन्तु अभी काफी काम शेष है।

दृष्टिहीनों की शिक्षा की सामग्री उपलब्ध कराने के प्रयास में नेशनल एसोसिएशन फार दी ब्लाइंड की मध्यप्रदेश शाखा में एक कम्प्यूटराइज्ड ब्रेल प्रेस की स्थापना की है जिसके उपर होने वाला खर्च लगभग नौ लाख होगा। प्रसन्नता की बात है कि अपने ही स्रोतों से इस संस्था ने एक आयातीत मशीन (ब्रेल एम्बोसर) की स्थापना तो कर ही ली है और प्रयास किये जा रहे हैं कि बाकी लगने वाला खर्च का प्रबंध शासकीय तथा अशासकीय स्रोतों से हो सके, किन्तु इस तरह के प्रयास कई गुना होंगे तब पूरे देश में पाठ्य पुस्तकें और अन्य सामग्री दृष्टिहीनों को उपलब्ध हो सकेगी। एक बात और ध्यान देने लायक है कि ब्रेल लिपि में छपी पाठ्य पुस्तकें और अन्य सामग्री की कीमत सामान्य भाषाओं में छपी हुई पुस्तकों से कई गुना अधिक होती है। मध्यप्रदेश में वर्तमान में सौभाग्य से आज दृष्टिहीनों के कल्याण तथा शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने के लिये एक प्रबल राजनैतिक इच्छाशक्ति उपलब्ध है और वर्तमान में कार्यरत उच्च अधिकारी भी इस दिशा में प्रयासरत है किन्तु शैक्षणिक सामग्री तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिये इन कार्यों को गति देना आवश्यक है।

दृष्टिहीनों की शैक्षणिक आवश्यकताएं पूरी करने हेतु अलग से प्रोढ़ शिक्षा तथा महिला शिक्षा के कार्यक्रम प्रारंभ करने से इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति हो सकती है। आज के परिवेश में जब महिलाओं की प्रगति के बारे में चर्चाएं जोर-शोर से हो रही हैं, उस वातावरण में दृष्टिहीन महिलाओं की स्थिति पर नजर दौड़ाने से पता लगता है कि भारतवर्ष में दृष्टिहीन महिलाओं की शिक्षा के क्षेत्र में अधिक सक्रियता से कार्य करने की आवश्यकता है। एक उत्साहवर्धक तथ्य

है कि आज के कम्प्यूटरीकरण के युग में दृष्टिहीन भी इस और आकर्षित हुए हैं। कुछ दृष्टिहीन व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में सफलता भी अर्जित की है किन्तु उचित प्रशिक्षण के लिये रोबोट सिथेंसाइजर तथा हेड फोन्स की आवश्यकता है। चूंकि ये उपकरण महंगे तथा आयातीत हैं। सब संस्थाएं तो ऐसे उपकरण प्राप्त नहीं कर सकती, किन्तु विदेशी सहायता, भेंट या सहयोग के रूप में प्राप्त करके इसमें प्रशिक्षण के बारे में कुछ केन्द्र स्थापित हो सकते हैं। वैसे समय-समय पर विदेशों से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता तथा धनराशि के बारे में समाचार प्रकाशित होते रहते हैं किन्तु इस राशि का कितना सार्थक उपयोग हो रहा है इस पर निगरानी भी आज के वातावरण में, जहां सर्वत्र भ्रष्टाचार, पाखण्ड एवं स्वार्थ का बोलबाला है, आवश्यक है।

दृष्टिहीन व्यक्तियों की प्रगति में एक बाधा सर्वविदित है- चलने-फिरने में कठिनाई। इस कारण उनका शैक्षणिक संस्थाओं तक पहुंचना आसान नहीं होता। आज पूरे प्रदेश में इस क्षेत्र में प्रशिक्षण देने का कोई भी केन्द्र नहीं है। इसे दूर करने के लिए एक “मोबिलिटी ट्रेनिंग सेन्टर” स्थापित करना चाहिये जहां पर मोबिलिटी ट्रेनिंग देने के लिए प्रशिक्षक तैयार किए जाएं। ये प्रशिक्षित प्रशिक्षक विभिन्न जिलों या केन्द्रों पर जाकर दृष्टिहीनों को मोबिलिटी का प्रशिक्षण दें।

दृष्टिहीन व्यक्तियों के शैक्षणिक विकास का कार्यक्रम कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व शासकीय स्तर पर समाज कल्याण विभाग के अलावा अन्य विभाग जैसे- शिक्षा, जनशक्ति, स्वास्थ्य, उद्योग तथा पंचायत इत्यादि विभागों को भी पूरा करने में सक्रिय सहयोग देना चाहिये। वैसे तो समन्वय समिति में इन विभागों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था है किन्तु अभी कार्य प्रारंभ होना बाकी है।

मेरे मतानुसार जब तक दृष्टिहीन व्यक्तियों की शैक्षणिक योग्यता में बढ़ोतरी नहीं होगी इस क्षेत्र में विकास थोड़ा ही रहेगा जो हमारी इच्छाओं के प्रतिकूल है। दृष्टिहीन व्यक्तियों के लिए देश में कोई भी पुस्तकालय, वाचनालय (लायब्रेरी) नहीं है। अतः इस तरह की व्यवस्था प्रत्येक राज्य में स्थापित करने पर बल देना होगा, किन्तु इसके पूर्व यह सुनिश्चित करना होगा कि पुस्तकें एवं अन्य साहित्य ब्रेल लिपि में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो।

दृष्टिहीन विद्यार्थियों की शिक्षा का एकमात्र माध्यम है कैसेट किन्तु इनकी उपलब्धता अपर्याप्त है। इस प्रकार के विकलांग छात्रों को प्रचुर मात्रा में कैसेट निःशुल्क उपलब्ध होना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में एक कैसेट लायब्रेरी भी स्थापित होना अनिवार्य होना चाहिये।

वैसे तो पूरे विश्व में इस दिशा में अच्छे प्रयास हुए हैं। 1858 में अमेरिका में प्रारंभ

प्रक्रिया में तथा पुस्तकालय की स्थापना एवं संबंधित कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का कार्य हो ही रहा है किन्तु उपलब्ध जानकारी के अनुसार भारतवर्ष में 1963 में केवल दिल्ली में एक सार्वजनिक वाचनालय में हिन्दी तथा अंग्रेजी में एक ब्रेल विभाग ही स्थापित हो पाया है। अन्य प्रदेशों को इस प्रकार की संस्थाओं के विचार को तो छोड़िए, इनका महत्व एवं उपयोगिता तक के बारे में जानकारी नहीं है। इन सब विचारों की समीक्षा से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आज के आर्थिक एवं सामाजिक वातावरण में ब्रेल लिपि विकासशील देशों में ही दृष्टिहीन लोगों की शिक्षा का सार्थक माध्यम है, क्योंकि इलेक्ट्रॉनिक उपकरण न तो उपलब्ध है न ही दृष्टिहीन या उनके सहायक इतने महंगे उपकरणों को उपलब्ध करने में सक्षम हैं।

अतः मेरा सुझाव है कि प्रत्येक राज्य में कम से कम एक ब्रेल प्रेस जो कि जनसंख्या क्षेत्रफल तथा दृष्टिहीन व्यक्तियों की संख्या तथा आवश्यकता पर आधारित हो, स्थापित होना चाहिये और उसका उपयोग पूरी क्षमता अनुसार किया जाना चाहिये। इसके लिए लगने वाली सामग्री जैसे ब्रेल प्रेस, मशीन, विशेष प्रकार का कागज, प्रशिक्षित कार्यकर्ता उपलब्ध करने की दिशा में प्रत्येक राज्य सरकार को सहायता देना चाहिये। यह कार्य गैर शासकीय संगठन अधिक सक्रियता से कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

दृष्टिबाधित विकलांगता के कारण, पहचान एवं रोकथाम

विकलांगता के प्रतिशत के बारे में वर्तमान में उपलब्ध जानकारी के अनुसार पूरे विश्व की जनसंख्या का 10 प्रतिशत भाग विभिन्न प्रकार की विकलांगताओं से प्रभावित है। इतनी अधिक संख्या के परिप्रेक्ष्य में इसको नियंत्रित करने की दृष्टि से विकलांग अधिनियम- 1995 बनाया गया। इसके क्रियान्वयन के अन्तर्गत अभी-अभी एक सर्वेक्षण मध्यप्रदेश में कराया गया। सर्वेक्षण से प्राप्त जानकारी के आधार पर पूरे प्रदेश में 14,77,708 व्यक्ति निशक्तता से बाधित हैं। दृष्टिबाधित निशक्तजनों की संख्या 3,28,147 है जो कि सन् 1981 में 67,707 बताई गई है। अतः आज पूरे प्रदेश की जनसंख्या का 0.49 प्रतिशत भाग दृष्टिबाधित विकलांग है। इस सर्वेक्षण से समाज का ध्यान इस विकराल समस्या की ओर आकर्षित हुआ है जिससे इस समस्या के निराकरण में सहायता मिलेगी और सामान्य जनता का सहयोग भी प्राप्त हो सकेगा। इस स्थिति से निजात पाने के लिये दृष्टिबाधित विकलांगता के कारण, पहचान एवं रोकथाम पर विकलांग बंधु प्रशिक्षण कार्यक्रम एक अच्छा तथा सामयिक प्रयास है।

दृष्टिबाधित विकलांगता के कारणों की समीक्षा आवश्यक है। दृष्टिबाधित विकलांग व्यक्तियों का प्रतिशत ग्रामीण तथा आदिवासी क्षेत्रों में अत्यधिक है।

ग्रामीण एवं आदिवासी क्षेत्र

शहरी क्षेत्र

75 से 80 प्रतिशत

20 से 25 प्रतिशत

ग्रामीण तथा आदिवासी क्षेत्र में दृष्टिबाधित विकलांगों की बाहुल्यता के भी कई कारण हैं :-

- अ. शिक्षा तथा जानकारी का अभाव।
- ब. अंधविश्वास।
- स. नीम हकीम तथा अयोग्य व्यक्तियों द्वारा इलाज।
- द. उचित चिकित्सा का अभाव।
- इ. आवागमन के साधनों में कमी।
- उ. रोग के प्रति गंभीरता की कमी।

वैसे तो उपरोक्त कारण शहरी क्षेत्र में भी पाये जाते हैं किन्तु इनकी मात्रा कम ही होती है। वैसे ही अलग-अलग आयु समूह में नेत्र रोगों में भिन्नता भी है जैसे :-

1. नवजात शिशु में जन्मजात बीमारियाँ जैसे- मोतियाबिन्द, काँचबिन्द, आप्टीक

एट्रोपी।

2. स्कूल आयु के बच्चों में 'कंजेनिटल एण्ड डेवलपमेन्टल एनामलिज'
3. वयस्क जीवन जी रहे व्यक्ति समूह में उपरोक्त के अलावा मधुमेह एवं चोट ।
4. अधिक आयु में मोतियाबिन्द, काँचबिन्द, मधुमेह, 'न्यूरोलॉजिकल रोग, एबायोट्राफिक चेन्जेस्' ।
5. वृद्धावस्था में दृष्टिपटल (रेटिना) काँचबिन्द, मधुमेह, हृदय रोग, दृष्टिहीनता के कारण हैं ।

2. जन्मजात बीमारियाँ : कुछ बीमारियाँ ऐसी होती हैं जो जन्म के समय के पूर्व से ही शिशु को हो जाती हैं । इसका प्रमुख कारण गर्भवती महिला को गर्भकाल में विशेष प्रकार के रोग । उसी प्रकार कुछ ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिन्हें जन्मदोष कहा जाता है । इससे आँख की बनावट प्रभावित होती है और विकलांगता का कारण बनती है ।

3. चोट :- आँख एक ऐसा अंग है जो किसी भी प्रकार का अपमान सहन नहीं करती है- यह अपमान चोट के रूप में आँख को मिलता है और विकलांगता का कारण बन जाता है । इस प्रकार की चोट, आपस में लड़ाई-झगड़े, क्रिकेट, टेनिस, गुल्ली-डंडा खेल, बेडमिन्टन, फटाखे, रसायनशाला, कारखाने, छेनी और हथौड़ा, वेल्डिंग इत्यादि में भी लगने से दृष्टिहीनता का कारण बनकर विकलांगता बन जाती है ।

4. उचित चिकित्सा का अभाव : मोतियाबिन्द, काँचबिन्द, कार्नीयल अल्सर, भेंडापन इत्यादि का समय पर उचित चिकित्सा के अभाव के कारण विकलांगता होती है । समय पर उपचार से दृष्टिहीनता एवं अन्य विकलांगता से बचा जा सकता है ।

5. भोजन में पोष्टिक तत्वों की कमी विशेषकर वीटामिन ए एवं अन्य विटामिन जैसे विटामिन डी, सी, के, बी-2 एवं बी-12 की कमी भी दृष्टिहीनता एवं विकलांगता का प्रमुख कारण है ।

6. शरीर के अन्य रोग मधुमेह, रक्तचाप, न्यूरोलॉजिकल बीमारियाँ इत्यादि ।

पहचान : उचित यह होगा हम यह जान लें कि अंधत्वं किसे कहते हैं :-

1. दृष्टि का पूर्ण अभाव व व्यक्ति रोशनी को भी देखने में असमर्थ हो,
2. दृष्टि सुधारक लेंस (चश्मे) के उपयोग के बाद भी 6/60 से कम हो ।
3. दृष्टि क्षेत्र (फिल्ड ऑफ विजन) 20 डिग्री से कम हो ।

इसके अलावा एक स्थिति और होती है जिसे लो विजन या अल्प दृष्टि कहते हैं। इस स्थिति की पहचान कठिन नहीं होती। यह कार्य कुछ सीमा तक तो संबंधित व्यक्ति कर देता है किन्तु निदान के लिये आवश्यक है कि नेत्र विशेषज्ञ या कुशल चिकित्सक ऐसे व्यक्ति का परीक्षण करें। इसके लिये विशेष उपकरण की भी आवश्यकता नहीं होती और ग्रामीण क्षेत्रों में भी सरलता से किया जा सकता है।

रोकथाम : रोकथाम के लिये निम्न उपाय उपयोगी तथा सार्थक हो सकते हैं :-

1. गर्भावस्था में गर्भवती महिला का परीक्षण।
2. स्कूली बच्चों का वर्ष में एक बार नेत्र परीक्षण।
3. कारखानों, रसायन शालाओं व अन्य स्थानों पर सुरक्षितता के उपाय करना।
4. नेत्र रोगों के बाबद निरन्तर जानकारी देकर उनकी रोकथाम एवं चिकित्सा बाबद शिक्षा देना।
5. शिक्षकों को प्रशिक्षण देकर नेत्ररोगों से पीड़ित बच्चों की पहचान करना।
6. कुशल नेत्र विशेषज्ञ से शीघ्र एवं समय पर उपचार कराकर दृष्टिहीनता की रोकथाम करना।

अतः दृष्टिबाधित विकलांगता का अन्धत्व निवारण कार्यक्रम से निकटता का संबंध है। दृष्टिबाधित विकलांगता की रोकथाम के लिये अंधत्व निवारण कार्यक्रम को प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने से विकलांगता की रोकथाम संभव हो सकेगी।

अल्प दृष्टि (लो विजन) उपचार केन्द्रों की आवश्यकता

आज पूरे विश्व में क्षतिग्रस्त दृष्टि (विजवल इम्पेयरमेंट) वाले व्यक्तियों की संख्या 16 करोड़ है। भारतीय चिकित्सा शोध संस्थान के अनुसार इस श्रेणी के लोगों की संख्या भारत में 4.5 करोड़ है। एशिया महाद्वीप के अन्य देशों में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। कारगर उपायों के अभाव में अगले 25 वर्षों में यह संख्या बढ़कर दुगुनी होने की संभावना है। अन्य देशों की स्थिति देखकर हमें संतुष्ट नहीं होना है, परन्तु प्रेरणा लेकर इस स्थिति में सुधार हेतु कारगर उपाय कर एक उदाहरण प्रस्तुत करना है।

इस प्रकार की विषम स्थिति पर नियंत्रण के लिये प्रबल राजनीतिक इच्छाशक्ति आवश्यक है जिसका पूर्ण अभाव हमने पिछले 50 वर्षों में देखा है। वर्तमान केन्द्रीय सरकार ने अपने अभी तक के अल्प कार्यकाल में दृढ़ तथा दूरगामी परिणामों वाले निर्णय लिए हैं, जैसे कि परमाणु परीक्षण, शासकीय कर्मचारियों की सेवानिवृत्ति में बढ़ोतरी तथा शिक्षकों की सेवा शर्तों में सुधार। इन निर्णयों में राजनीतिक इच्छाशक्ति का परिचय दिखाई देता है और साथ ही प्रशासनिक क्षमता का भी अहसास होता है। यह उत्साहवर्द्धक है। इसी तारतम्य में प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने पाँच सूत्री न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम की भी घोषणा की है, जिसमें स्वास्थ्य के प्रति देख-रेख की अवधारणा को भी शरीक किया गया है।

प्रधानमंत्री के पाँच सूत्री कवच :

- (1) विज्ञान और टेक्नालॉजी को प्राथमिकता एवं सॉफ्टवेयर के विकास पर बल।
- (2) अगले दशक तक कृषि उत्पादन को दुगुना करना।
- (3) सड़क, बन्दरगाह, विद्युत व टेलीकाम के क्षेत्र में उच्चतर योजनाओं हेतु अधिक धन की स्वीकृति।
- (4) स्वास्थ्य की देख-रेख, पेय जल, शिक्षा व स्वच्छता हर नागरिक के लिए अगले पाँच वर्षों में उपलब्ध कराने का लक्ष्य।
- (5) सभी राज्यों को जल स्रोतों का समान वितरण।

इस तरह देखते हैं कि चौथे सूत्र में स्वास्थ्य से संबंधित उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अन्तर्गत अल्प दृष्टि वाले व्यक्तियों की देखभाल तथा आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी। इससे यह आशा बंधी है कि चार दशकों से उपेक्षित अल्प दृष्टि वाले व्यक्तियों के जीवन में प्रकाश

आना संभव हो सकेगा। इस वातावरण का लाभ इस उपेक्षित वर्ग के पक्ष में उठाने का भरसक प्रयास करना चाहिए। इसके लिए देश के बुद्धिजीवी वर्ग जैसे शिक्षक, शोधकर्ता, तकनीकी व्यक्ति, समाजसेवी तथा इस कार्य में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को अल्प दृष्टि वाले मरीजों के लिए उपलब्ध सेवा कार्यक्रम तथा आवश्यकताओं से अवगत कराने से इस कार्य में गति आ सकेगी और इस वर्ग की जरूरतों की पूर्ति में भी सहायता मिलेगी। आम जनता में भी इस क्षेत्र के प्रति आकर्षण पैदा करना जरूरी है। यह तभी संभव होगा जब अल्प दृष्टि के बारे में पूरे समुदाय में सामान्य न्यूनतम जानकारी उपलब्ध कराई जाए।

यह जानना भी सामयिक या उपयुक्त होगा कि अल्प दृष्टि से तात्पर्य इतनी कम दृष्टि से है कि मरीज के लिए रोजमर्रा का सामान्य कार्य करना असंभव हो जाता है जैसे लिखना-पढ़ना, चलना-फिरना आदि। अल्प दृष्टि (लो विजन) व्यक्ति की दिनचर्या में महान बाधक तत्व है। उपरोक्त स्थिति में परिवार के सदस्यों को चाहिए कि वह मरीज को तुरन्त उपचार एवं सलाह हेतु नेत्र विशेषज्ञ के पास ले जाएं।

इस संदर्भ में चश्मे बनाने वालों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वे आबादी के एक बड़े हिस्से के सम्पर्क में आते हैं और अनेक मरीज उनके यहां आंखों की जाँच के लिए जाते हैं। ऐसी स्थिति में जबकि दृष्टि में कोई संतोषजनक सुधार नजर नहीं आए तो चश्मे बनाने वालों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वो मरीज को नेत्र विशेषज्ञ से सम्पर्क करने के लिए प्रेरित करें। वैसे यह उम्मीद की जानी चाहिए कि मरीज स्वयं भी नेत्र विशेषज्ञ / अल्प दृष्टि उपचार विशेषज्ञ से सम्पर्क करें।

इस दिशा में कार्य करना तभी संभव हो सकेगा जब अल्प दृष्टि के कारणों को जनता को समझाया जाए। इससे इस रोग की रोकथाम में मदद मिलेगी।

अलग-अलग आयु में अल्पदृष्टि के भिन्न-भिन्न कारण हैं जिन्हे नीचे वर्गीकृत किया जा रहा है :-

शैशव (इनफेंसी) :- बचपन में एक विशिष्ट प्रकार की बीमारी जो “आफथेलमिया निओनेटोरम” के नाम से जानी जाती है, अल्प दृष्टि के लिए जिम्मेदार होती है।

शिशु वर्ग :- शिशु वर्ग में अल्प दृष्टि अनेक कारणों से होती है जिसमें विटामिन ‘ए’ की कमी और बीमारियों का प्रकोप दोनों ही शामिल हैं। अनेक तरह की बीमारियाँ हैं जिनकी वजह से बचपन में अल्प दृष्टि दोष पैदा हो जाता है। इनमें रिफ्रेक्टिव एरर्स-मायोपिया, भेंडापन, खसरा, दस्त, पैदाइशी बीमारी, पैदाइशी मोतियाबिंद तथा आप्टीक एट्रोफी भी शरीक हैं।

वयस्क (20 से 50 वर्ष) :- वयस्कों में अल्प दृष्टि रोग मुख्य रूप से रोहे, चोट, बैक्टीरियल कन्जक्टीवाइटिस, रिफ्रेक्टिव एरर्स जैसे मायोपिया, रतोंध इत्यादि ।

प्रौढ़ (50 से 70 वर्ष) :- इस उम्र में मोतियाबिन्द, कांचबिन्द, कार्निया की अपारदर्शिता की वजह से मुख्य रूप से अल्प दृष्टि रोग हो जाता है ।

अन्य कारण :- अल्प दृष्टि के अन्य भी कई कारण हैं जिन पर ध्यान देना जरूरी है जैसे मधुमेह, कैंसर, उच्च रक्तचाप, कुष्ठ रोग और हमारे स्नायु तंत्र के अन्य रोगों से भी यह दोष पैदा हो जाता है ।

अल्प दृष्टि का क्षेत्र अनेक भ्रांतियों का शिकार रहा है । इस क्षेत्र में यह भी गलतफहमी रही है कि अल्प दृष्टि वाले व्यक्ति यदि उनकी बची-खुची दृष्टि का उपयोग करेंगे तो वे दृष्टिहीन हो जावेंगे । उदाहरण के लिए 1270 में चीन में जो इस प्रकार की विकलांगता से ग्रस्त थे वे दृष्टि बढ़ाने के लिये प्रिज्म का उपयोग करते थे । लन्दन जैसे शहर में 1908 में संचालित एक मायोप स्कूल में बच्चों को मौखिक और बिना दृष्टि के उपयोग के कार्य करना सिखाया जाता था ताकि उनकी शेष दृष्टि भी नष्ट न हो जाए । इसी पर विश्वास करते हुए नेशनल सोसायटी नामक संस्थान में “दृष्टि रक्षा” का प्रचार किया गया और अनेक कार्यक्रम शुरू किए गए जैसे दृष्टि दोष वाले छात्रों के लिए कक्षाएं, दृष्टि सुरक्षा कक्षाएं और दृष्टि बचाओ कक्षाएं आयोजित की गईं । ये सारे कार्यक्रम एक ही सिद्धान्त पर आधारित थे और वो था बची-खुची दृष्टि की रक्षा की जाए । 1970 तक यही स्थिति बनी रही । इसी वर्ष यह बात स्वीकार कर ली गई कि उपरोक्त विश्वास तथ्यों पर आधारित नहीं है । इसके बाद यह स्वीकार कर लिया गया कि बची-खुची दृष्टि का उपयोग करने से कोई हानि नहीं होगी । इस क्षेत्र में शोध कार्य भी हुए । 1964 में भी शोध कार्यों को सफलता मिली थी और “विजवल इफीशन्सी स्केल” तथा 1970 में ‘बेरागोस विजवल इफीशन्सी स्केल एंड टीचर्स गाइड’ का प्रकाशन हुआ ।

सुधार एवं विकास कार्यों के अन्तर्गत 1953 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के न्यूयार्क शहर में सबसे पहला अल्प दृष्टि उपचार केन्द्र स्थापित हुआ । इस सबके बावजूद भी यह क्षेत्र बेहद पिछड़ा हुआ है । भारत के संदर्भ में यह क्षेत्र उपेक्षित कहा जा सकता है । इसके विकास की महती आवश्यकता है जो इस क्षेत्र में विशेषज्ञों के कार्य से ही सम्भव है । यह क्षेत्र समन्वय की मांग करता है । ये समन्वय नेत्र विशेषज्ञ, मनोवैज्ञानिक, शिक्षक, तकनीकी विशेषज्ञ, दृष्टिमाप वैज्ञानिक (आप्टोमेटेरिस्ट) आदि के बीच में होना चाहिये । वैसे तो इस कार्य में सभी विशेषज्ञों की भूमिका महत्वपूर्ण है परन्तु इसमें नेत्र विशेषज्ञ की भूमिका अतिविशिष्ट है क्योंकि नेत्र रोग

ही अल्प दृष्टि के मूल कारण होते हैं। उत्कृष्ट श्रेणी के उपचार के बाद भी कुछ लोग अल्प दृष्टि की श्रेणी में आ जाते हैं उन्हें अल्प दृष्टि क्लिनिक की सहायता की जरूरत होती है।

अल्पदृष्टि क्लिनिक में तकनीकी कार्य करते समय अन्य जानकारी से इन व्यक्तियों को अवगत कराना उपयोगी एवं लाभदायक हो सकता है :-

- (1) अल्प दृष्टि और दृष्टिहीनता अलग-अलग हैं।
- (2) सभी चिकित्सक अल्प दृष्टि निराकरण के विशेषज्ञ नहीं होते, इसलिए वे इस उपचार में असमर्थ होते हैं। कई परिस्थितियों में इस विषय के विशेषज्ञ भी सहायता नहीं कर पाते।
- (3) अल्प दृष्टि संबंधी उपकरण के बारे में पूर्ण जानकारी उपयोगी होती है।
- (4) अल्प दृष्टि वाले पूर्ण जानकारी के अभाव में कुछ भ्रांतियाँ पालते हैं। यह बताना आवश्यक है कि अल्प दृष्टि में मददगार वस्तुओं के उपयोग के समय कम रोशनी में पठन सामग्री को अत्यधिक पास से पढ़ने से आँखें खराब नहीं होतीं। वस्तु स्थिति तो यह है कि ऐसे व्यक्तियों को स्पष्ट देखने के लिए पठन सामग्री को पास ही रखना पड़ती है। यहाँ तक कि अल्प दृष्टि वाले यदि टेलीविजन एक फुट की दूरी से देखें तो भी उनकी आँखें खराब नहीं होंगी।

अल्प दृष्टि वाले व्यक्ति का उपचार अल्प दृष्टि में सहायक माध्यमों से किया जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं :-

- (1) दृष्टि में सहायक माध्यम (आप्टीकल)
- (2) गैर दृष्टी माध्यम (नान आप्टीकल)

(1) दृष्टि सहायक : (आप्टीकल) : ये उपकरण आवर्धन (मेग्नीफिकेशन) के सिद्धान्त पर आधारित हैं जो कि नजदीक या दूर की देखी जा रही वस्तु की साइज को बड़ी कर देखने में सहायक होते हैं। संतोष की बात है कि आज इस तरह के उपकरण उपलब्ध है।

(2) गैरदृष्टीय माध्यम (नान आप्टीकल) : इस प्रकार के उपकरण प्रकाश (इल्यूमिनेशन) के सिद्धान्त पर आधारित हैं। ये उपकरण भी विभिन्न प्रकार के होते हैं और इनका उपयोग भी परिस्थितियों पर आधारित होता है। देश में निर्मित उपकरण सस्ते होते हैं और अन्य उपकरण जैसे दूरबीन और क्लोज सर्किट टेलीविजन जो देश में नहीं बनाए जा सकते उन्हें प्राप्त करना आसान नहीं होता।

अल्पदृष्टि सहायता देने का सिद्धान्त का आधार शेष दृष्टि के अधिक से अधिक उपयोग पर आधारित है। बची हुई दृष्टि का उपयोग इसका मूलमंत्र है। किस व्यक्ति को किस तरह की सहायता दी जाए यह उनके कारणों पर निर्भर करता है। अधिकतर मरीजों को आप्टिकल एड्स की सहायता दी जाती है। इस समस्या की विकरालता तथा निराकरण केन्द्रों की न्यूनतम संख्या को देखते हुए युद्धस्तरीय प्रयासों की जरूरत है। आज देश में मात्र 20 केन्द्र हैं। इस कार्य को पूरा करने के लिए गैरशासकीय संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होगी। उपयुक्त तो यही होगा कि इस क्षेत्र में कार्यरत संगठन जिनकी प्रादेशिक तथा जिला स्तरीय शाखाएं देश में हों। जैसे (नेशनल एसोसिएशन फॉर दी ब्लाइंड) के माध्यम से यह कार्य सुगमता से किया जा सकता है। रेडक्रास सोसायटी भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

तात्पर्य यह है कि हर जिले में कम से कम एक अल्पदृष्टि उपचार क्लिनिक की स्थापना की जानी चाहिये। इस प्रकार के स्थापित या स्थापित होने वाले केन्द्रों की जानकारी सार्वजनिक की जाना चाहिये। प्रचार-प्रसार कार्य जनप्रतिनिधियों, समाजसेवी संस्थाओं तथा पंचायतों को सौंपा जा सकता है। समाचार पत्रों एवं अन्य प्रचार माध्यमों की भूमिका इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्व की है। अल्पदृष्टि सहायता उपकरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध किया जाना कार्यक्रम की सफलता के लिये जरूरी है। इनकी सफलता के लिए प्रशिक्षित नेत्र विशेषज्ञ व दृष्टिमापी वैज्ञानिक (आप्टोमेट्रिस्ट) उपलब्ध होना कार्यक्रम की सफलता के लिये जरूरी है।

विकलांगों की उच्च शिक्षा में प्रौद्योगिकी का महत्व

पिछले वर्षों में प्रौद्योगिकी विशेषकर कम्प्यूटर के विस्तार के फलस्वरूप पाश्चात्य एवं विकसित देशों में विकलांग वर्ग के लिये उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अवसर तथा कार्यक्षेत्र की अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। उच्च शिक्षा संस्थानों में टेक्नालॉजी की उपलब्धता के कारण विकलांग विद्यार्थी असमर्थ होने के बावजूद भी उच्च शिक्षा की ओर आकर्षित हुए हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इस आकर्षण का श्रेय वर्ष 1973 में पारित अधिनियम को दिया जा सकता है। इसकी धारा 504 के अन्तर्गत शासकीय सहायता प्राप्त उच्च शिक्षा संस्थानों को विकलांग विद्यार्थियों को समुचित स्थान देने की अनिवार्यता है। एक अन्य अधिनियम “अमेरिकन्स विथ डिसेबिलिटीज 1990 की धारा 504 के अन्तर्गत विकलांग विद्यार्थी वर्ग को संतुलित स्थान उन निजी शैक्षणिक संस्थानों में भी देने की व्यवस्था की गई है जिसका संबंध शासन से प्राप्त आर्थिक सहायता से नहीं है।

इसके अतिरिक्त इसी देश में विकलांग समुदाय की उच्च शिक्षा हेतु अनेक कानून बनाये गये हैं जो इस वर्ग को शिक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ऐसे कानूनों में 1975 का विकलांग बच्चों हेतु कानून, ऊपर उल्लेखित कानून में 1986 में किया गया संशोधन, इनफन्ट्स तथा टॉडलर्स एक्ट, 1988 में पारित टेक्नालॉजी रिलेटेड अस्सिटन्स फॉर डिसेबिलिटीज एक्ट तथा इनडिविजवल्स विथ डिसेबिलिटीज कानून के परिणाम स्वरूप इस वर्ग की शिक्षा आवश्यकता पूरी करने के प्रति सरकार की प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

भारत वर्ष में भी विकलांग वर्ग की शिक्षा का इतिहास नया नहीं है। सन् 1955 में भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने एक राष्ट्रीय सलाहकार मंडल की रचना की थी। 16-22 दिसम्बर 1961 में अपंगों के व्यवसाय तथा प्रशिक्षण संबंधी प्रथम राष्ट्रीय गोष्ठी बेंगलूर में आयोजित की गई थी। 1983 में विकलांगों के लिये योजनाओं पर भारत सरकार को सलाह देने के लिये एक राष्ट्रीय सलाहकार मंडल स्थापित करने का निर्णय लिया था। 1986 में रिहेबिलिटेशन कोन्सिल ऑफ इंडिया की स्थापना हुई और विकलांग वर्ग के लिये नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गई। इन सब तथा अन्य प्रयासों के बावजूद इस वर्ग के लिये शिक्षा/उच्च शिक्षा के साधनों की उपलब्धता लगभग नहीं के बराबर है। अतः इस उपेक्षित वर्ग के कल्याण के लिये केन्द्र शासन ने 1995 में एक अधिनियम बना कर इस दिशा में सुनियोजित कार्य का मार्ग प्रशस्त किया। इस अधिनियम के 5 वें अध्याय में विकलांग वर्ग की शिक्षा के उपायों का समावेश है। धारा 27 में इलेक्ट्रानिक्स या अन्य माध्यमों द्वारा परिचर्चा, उपकरण एवं पुस्तकें उपलब्ध कराने का प्रावधान भी किया गया है। किन्तु उच्च शिक्षा के लिये टेक्नालॉजी तथा सहयोगात्मक साधन के बारे में कोई प्रावधान नहीं है। यह आज की महती आवश्यकता है।

वर्तमान परिवेश में राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी, प्रचलित प्रशासकीय व्यवस्था, अनावश्यक हस्तक्षेप, अनुभव, जानकारी, दूरदर्शिता, योजनाबद्ध कार्यक्रम का अभाव तथा लालफीताशाही इस कार्य में अवरोध बने हुए हैं। इस वातावरण में विकलांग कल्याण के कार्य संभव नहीं है। किन्तु यह भी वास्तविकता है कि :-

प्रौद्योगिकी के माध्यम से किसी भी आयु तथा हर प्रकार का विकलांग विद्यार्थी कम्प्यूटर क्लास रूम क्रिया तथा अन्य कार्य सरलता से कर सकता है। इस दृष्टि से विकलांगता को 5 प्रकार से व्याख्यित किया है :-

1. दृष्टिबाधित, 2. श्रवणबाधित, 3. गतिशीलता (मोबिलिटी) बाधित 4. न्यूरोलॉजिकल क्षति बाधित, 5. लर्निंग डिसेबिलिटी।

प्रत्येक क्षेत्र के लिये प्रौद्योगिकी/टेक्नालॉजी अलग-अलग प्रकार की होती है, विभिन्न प्रकार की विकलांगता द्वारा उत्पन्न कठिनाईयों का स्वरूप भी अलग-अलग होता है और प्रौद्योगिकी तथा साधन भी अलग-अलग ही होते हैं।

दृष्टिबाधित विकलांगता तीन प्रकार की होती है :

1. आंशिक दृष्टिहीनता 2. पूर्ण दृष्टिहीनता 3. फील्ड ऑफ विजन में विकृति।

दृष्टिबाधित विकलांग व्यक्ति को चलने-फिरने, दिगविन्यास (ओरियेंटेशन) शैक्षणिक सामग्री तथा कम्प्यूटर के उपयोग में कठिनाई के अतिरिक्त दैनिक कार्यों के लिये भी दूसरों पर निर्भर होना पड़ता है। आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा साधन से इन विषमताओं के प्रभाव को कम किया जा सकता है। इस वर्ग के लिये विशेष प्रकार के कम्प्यूटर, स्क्रीन फील्डर्स, क्लोस्ड सर्किट टेलिविजन, रीडिंग मशीन्स, बड़े अक्षरों में छपी पुस्तकें, पोर्टेबल रिकार्डिंग मशीन, व्हाइज सिंथेसाइजर तथा स्क्रीन रीडर्स युक्त कम्प्यूटर आवश्यक और उपयुक्त होते हैं जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

2. श्रवणबाधित विकलांगता बातचीत करने की क्षमता के अतिरिक्त पढ़ने-लिखने तथा शैक्षणिक गतिविधियों को प्रभावित करती है। इस वर्ग के लिये व्हिजवल फ्लेशेस तथा व्हायब्रेटरी आउट पुट पर आधारित साफ्टवेयर तथा हार्डवेयर उपयोगी है।

3. गतिशीलता बाधित विकलांगता कई प्रकार की शारीरिक बीमारियों से होती है। फलस्वरूप आने जाने में कठिनाई स्वाभाविक है। व्हील चेयर, छड़ी, बैसाखी के उपयोग के अलावा भवनों में रपट-ढाल, इलेक्ट्रानिक्स दरवाजे तथा लेव्हल थ्रेशहोल्ड के प्रावधान उपयोगी

तथा सहायक होते हैं। लेपटाप कम्प्यूटर तथा पुस्तक वितरण व्यवस्था की उपयोगिता भी कम नहीं है।

4. न्यूरोलॉजीकल विकलांगता का प्रभाव शारीरिक क्षमता, शक्ति संवेदन तथा समन्वयन में कमी के रूप में होता है। अतः शैक्षणिक कार्यक्षमता प्रभावित होना सामान्य बात है। पुस्तक, पेन तथा कागज के उपयोग जैसे सामान्य कार्य भी नहीं हो पाते हैं। टेपरेकार्डर, वैकल्पिक टायपिंग प्रणाली, प्रयोगशाला के उपकरण तथा यंत्र जैसे साधन तथा विशेष प्रकार के कम्प्यूटर इस वर्ग की कार्यक्षमता में वृद्धि करते हैं।

5. लर्निंग असमर्थता : इस वर्ग में मौखिक तथा लिखित अभिव्यक्ति समझने की क्षमता जैसी अनेक प्रकार की कठिनाईयाँ होती हैं। स्कील तथा ग्रामर चेकर्स, वर्ड प्रोसेसर, श्रवण या दृष्टि प्रस्तुतीकरण, केलक्युलेटर, इलेक्ट्रॉनिक्स शब्दकोष तथा व्हाइस आउटपुट जैसे उपकरण इस वर्ग की कठिनाईयाँ कम करने में उपयुक्त माने जाते हैं।

विकलांग अधिनियम पारित होने के बावजूद उच्च शिक्षा के क्षेत्र में टेक्नालॉजी तथा सहायक साधन सम्पन्न एक भी केन्द्र स्थापित नहीं हो पाया है। वर्तमान में विकलांग वर्ग के कल्याण के लिये किये जा रहे कार्यों का ढिंढोरा तो प्रतिदिन पीटा जा रहा है, आयोजनों की भी कमी नहीं है किन्तु वस्तु स्थिति इसके ठीक विपरीत है। उच्च शिक्षा विकलांग वर्ग के पुनर्वसन की आधारशिला है जो सर्वाधिक उपेक्षित है। एक और तो प्रौद्योगिकी तथा सहायक साधनों की आवश्यकता है दूसरी ओर शिक्षा के लिये सामान्य व्यवस्था भी नहीं हो पायी है। यहाँ तक की दृष्टिहीनों के लिये ब्रेल में छपी पुस्तकें तथा कैसेट भी उपलब्ध नहीं हैं। इस चिन्ताजनक स्थिति से निजात पाने के लिये कठिन निर्णय तथा त्वरित कार्यवाही आवश्यक है। कुछ सुझाव विचारार्थ प्रस्तुत हैं :

1. विकलांग अधिनियम 1995 की समीक्षा तथा आवश्यक संशोधन। इस कार्य के लिये 1998 में राज्यसभा सदस्य माननीय दीपांकर मुखर्जी की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई थी, सुझाव भी आमंत्रित किये गये थे- मेरे अलावा अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने सुझाव प्रस्तुत भी किये थे किन्तु 2 वर्ष के लंबे समय के बाद भी की गई कार्यवाही की जानकारी अपेक्षित है।
2. रजिस्ट्रेशन ऑफ फर्मस् एवं सोसायटीज कानून 1860 की समीक्षा तथा संशोधन।
3. विश्वविद्यालय से संबद्ध शैक्षणिक संस्थाओं में विकलांग वर्ग की उच्च शिक्षा व्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी की उपलब्धता सुनिश्चित की जाना आवश्यक है।

4. विश्व विद्यालयों/उच्च शिक्षा की शैक्षणिक संस्थाओं में विकलांग कल्याण विभाग की स्थापना तथा विशेषज्ञों द्वारा प्रौद्योगिकी की आवश्यकता के निर्धारण का कार्य ।
5. विकलांग विद्यार्थियों से नियमित चर्चा के आयोजन का सुनियोजित कार्यक्रम ।
6. शिक्षित विकलांग विद्यार्थियों के लिये केम्पस् साक्षात्कार के नियमित आयोजन ।
7. विकलांग वर्ग के कार्यक्रमों के लिये योजना आयोग/मंडल में विशेष प्रकोष्ठ की स्थापना ।
8. उपरोक्त तथा अन्य सुझावों पर राष्ट्रीय स्तर पर विचार विमर्श के लिये विभिन्न राज्यों की समन्वय समिति के प्रतिनिधियों के बीच चर्चा का आयोजन ।

विकलांगता के क्षेत्र में कार्यों को सब धर्मों में पवित्र माना गया है । धर्म निरपेक्षता की दुहाई देने वाले प्रभावी व्यक्तियों से इस पुनीत कार्य को त्वरित करने का सादर अनुरोध तथा कार्यवाही की अपेक्षा के साथ यह प्रस्तुती ।

विकलांग वर्ग-पुनर्वसन-जनशक्ति वृद्धि- कुछ उपाय

विकलांग समुदाय की वास्तविक जनसंख्या प्रारम्भ से ही विवादित बिन्दु रहा है। समय-समय पर इस वर्ग की जनसंख्या के आँकड़े प्रस्तुत हुए हैं - जिनमें एकरूपता नहीं है। यह समस्या तथा मतभिन्नता समान रूप से पूरे विश्व में दिखाई देती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार विश्व की जनसंख्या का 10% भाग विकलांग है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा किये गये विभिन्न सर्वेक्षणों के अनुसार विकलांग व्यक्तियों की संख्या 20% है, जिसमें मानसिक रूप से बीमार, मिर्गी, कुष्ठ रोग जैसी अन्य प्रकार के रोगों से पीड़ित व्यक्ति भी सम्मिलित है। विकलांग वर्ग की जनसंख्या के बारे में भारत में भी भ्रामक स्थिति ही है। इस पृष्ठभूमि में 1989 में किये गये सर्वेक्षण के अनुसार दृष्टिहीनों की संख्या 1.2 करोड़ है। वर्ष 1991 में बानगी के रूप में देश के 16 राज्यों में किये गये सर्वेक्षण के अनुसार दृष्टिहीन, बधिर, मूक तथा अस्थिबाधित विकलांग व्यक्तियों की संख्या 1.6 करोड़ थी। 1991 के ही एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार मानसिक रूप से विकलांग बच्चों की संख्या 4.5 करोड़ है, जिसमें दृष्टिबाधित विकलांग वर्ग की संख्या 40 लाख मानी गई है जो 1989 के आंकलन से पूरी तरह भिन्न है। इस परिदृश्य में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दी गई संख्या विश्वसनीय प्रतीत होती है।

विकलांग वर्ग शारीरिक रूप से असमर्थ होता है। इस कमजोर वर्ग के पुनर्वसन का कार्य अत्यधिक कठिन है। किन्तु इसका तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता की देश की इतनी बड़ी जनसंख्या की उपेक्षा सतत होती रहे। विकलांग वर्ग के पुनर्वसन की स्थिति दयनीय है जो कि वर्तमान में कार्यरत संस्थानों तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या से प्रदर्शित होती है। आज देश में विकलांग समुदाय के प्रशिक्षण हेतु 40 संस्थान मानसिक विकलांगता, 17 दृष्टि बाधित, 32 बधिर तथा 27 अस्थिबाधित विकलांगता के क्षेत्र में प्रशिक्षार्थियों को प्रशिक्षण देने हेतु कार्य कर रही है, पूरे देश में मध्यप्रदेश के चित्रकुट विश्वविद्यालय के अतिरिक्त 6 विश्व विद्यालयों में विकलांग वर्ग के प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षक शिक्षण पाठ्यक्रम उपलब्ध है। ऐसी ही दयनीय स्थिति संस्थानों की भी है। देश में कार्यरत 116 संस्थाओं में से मध्यप्रदेश में केवल 3 संस्थाएँ इस कार्य को संपादित कर रही है।

इस विषम स्थिति से उभरने हेतु प्रयासों और आवश्यकताओं के अनेक बिन्दु विचारार्थ सामने आते हैं। इतने बड़े अन्तर को भरने के लिये 1000 करोड़ रु. की आवश्यकता हो सकती है। स्मरण रहे इस राशि की आवश्यकता तथा उपयोग अल्प समय में नहीं होगा। सतही तौर पर सोच विचार वाले व्यक्ति इतनी बड़ी धन राशि के आकार को देख ठंडी सांस लेने लग जाते हैं, सांस फूल जाती है और अन्ततः विचार-विमर्श तक लंबित हो जाता है। किन्तु विकलांग

व्यक्ति के विकास तथा पुर्नवसन हेतु पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित व्यक्ति की संख्या कम नहीं हो सकती है। कोई कारण ही नहीं दिखता कि इस कठिन तथा विषम मानवीय कठिनाई से हम उभर नहीं सकें। प्रत्येक स्तर पर विचार विमर्श तथा युद्धस्तरीय प्रयासों से सफलता मिल सकती है। सफलता प्राप्ति की कुंजी दृढ़ इच्छा शक्ति, आपसी समन्वय तथा वर्तमान कार्य लीक से हट कर कार्य करने में निहित है।

विकलांग समुदाय के कल्याण पुर्नवसन हेतु पर्याप्त संख्या में मानव शक्ति की उपलब्धता हेतु कड़वे, कठिन तथा अलोकप्रिय उपाय आवश्यक हो सकते हैं, जैसा देश की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था सुधार हेतु किये जाने की आम चर्चा है। इस पुनित कार्य हेतु निम्नांकित सुझाव, महत्वपूर्ण, रचनात्मक तथा सार्थक भूमिका निभा सकते हैं।

1. विकलांग कल्याण तथा पुर्नवसन के कार्य से संबंधित सब बिन्दु तथा विषय महत्वपूर्ण है। एक शुभ लक्षण है कि वर्ष 2001 में देश की जनगणना हो रही है। चूंकि विकलांग वर्ग की वास्तविक संख्या से हम अनभिज्ञ हैं। अतः बगैर किसी अतिरिक्त श्रम तथा व्यय के जनगणना के साथ ही यह कार्य भारत सरकार का जनगणना विभाग सरलता से कर सकता है। बगैर समय नष्ट किये केन्द्र सरकार को उचित आदेश संबंधित विभाग को देना चाहिये।
2. इस कार्य में धन की कमी बाधा न बने इस हेतु आर्थिक उपलब्धता के नये स्रोत ढूंढे जा सकते हैं। आवश्यक धन प्राप्ति के लिये नये करारोपण का सहारा लिया जा सकता है। “विकलांग सहायता कर” करारोपण केन्द्र तथा प्रादेशिक सरकार करने में सक्षम है। इस अतिरिक्त कर का समाज भी विरोध नहीं करेगा बशर्ते धन का सदुपयोग तथा व्यय में पारदर्शिता हो। मध्यप्रदेश पंचायती राज्य व्यवस्था स्थापित करने में अग्रणी है। अतः मध्यप्रदेश में यह कार्य जिला पंचायत के अतिरिक्त जिला योजना समिति, मंडी कमेटी तथा अन्य स्थानीय निकायों के माध्यम से सरलता से हो सकता है।
3. मध्यम तथा वृहत श्रेणी के उद्योगों से भी सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। इस श्रेणी के उद्योगों के लिये विकलांग वर्ग को निश्चित प्रतिशत में रोजगार देने को अनिवार्य बनाया जा सकता है। इस कार्य में सफलता के लिये संबंधित उद्योगों को कर में छूट देना होगी जैसा अन्य कई देशों में होता है।
4. अतिरिक्त धन अर्जन हेतु देश में स्थापित व्यक्तिगत, सामाजिक संस्थागत तथा अन्य ट्रस्टों से भी सहायता प्राप्त की जा सकती है। स्थापित ट्रस्टों की आय होती ही है

जिसका उपयोग सेवा कार्यों में किया जाता है। विकलांग वर्ग की सहायता उच्च श्रेणी की मानवीय सेवा है जिसके लिये ट्रस्ट की आय का निर्धारित अंश इस मानवीय सेवा कार्य के लिये अनिवार्य बनाया जा सकता है। पूरा विश्वास है कि ट्रस्ट के संचालक इस प्रयास में अवरोध नहीं वरन सहायक ही होंगे।

5. केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर विकलांग वर्ग को उपलब्ध सुविधाओं की समीक्षा आज की महती आवश्यकता है। सुविधाओं में वृद्धि तथा पुनःनिरीक्षण से हमारा रास्ता सुगम बन सकता है।
6. शासकीय गैर योजना व्यय की आलोचना प्रतिदिन हो रही है। इस मद के व्यय को जन आक्रोश के परिणाम स्वरूप कम करना अनिवार्य हो गया है। कम की गई राशि का कम से कम 5 प्रतिशत भाग विकलांग कल्याण जन शक्ति वृद्धि के लिये देने का प्रावधान बगैर कठिनाई के किया जा सकता है।
7. विकलांग कल्याण तथा पुनर्वसन के लिये मानव शक्ति वृद्धि के क्षेत्र में शिक्षा, चिकित्सा, उद्योग, खादीग्रामोद्योग, पंचायत व्यवस्था, योजना तथा समाज कल्याण विभाग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। इस कार्य के लिये एक उच्चस्तरीय समिति गठन उपयुक्त उपाय है। समिति में संबंधित विभाग के मंत्रीगण की सदस्यता से संबंधित तथा अन्य क्षेत्रों में विकास की गति में बगैर अतिरिक्त व्यय के अप्रत्याशित वृद्धि हो सकती है। समिति के लिये वरिष्ठ, क्षेत्र का अनुभवी बुद्धिजीवी को समन्वयक बनाने से फलदायक कार्य आवश्यक रूप से हो सकते हैं।
8. खेद है कि विकलांग कल्याण एवं पुनर्वसन में मानव शक्ति विकास तथा अन्य कार्यों के लिये कोई योजना ही नहीं बनाई गई। योजना आयोग / योजना मंडल में एक विशेष प्रकोष्ठ की स्थापना से विकलांग कल्याण, पुनर्वसन तथा जनशक्ति विकास का योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाया जा सकता है। विकलांगता के क्षेत्र के प्रत्येक कार्य को शिक्षित, समर्पित, बुद्धिजीवी तथा इस विषय के अनुभवी व्यक्ति ही अंजाम दे सकते हैं। इस प्रकोष्ठ का दायित्व क्षेत्रीय विशेषज्ञ को देने से उपलब्धियाँ त्वरित हो सकती हैं।
9. वर्तमान कार्य प्रणाली के युग में प्रत्येक कार्य/योजना की सफलता के लिये उच्च-स्तरीय राजनीतिक आशीर्वाद तथा प्रबल इच्छा शक्ति आवश्यक है। केन्द्र में प्रधानमंत्री तथा राज्यों में मुख्यमंत्री 6 माह में एक बार चर्चा तथा समीक्षा के लिये समय निकाल

सकें तो उपलब्धियों का अंबार लग सकता है ।

विकलांगता के क्षेत्र में चिकित्सकों की भूमिका सर्वाधिक महत्व की है । ग्रामीण क्षेत्र के विकलांग व्यक्ति सर्वप्रथम प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के चिकित्सक तथा पैरामेडीकल कार्यकर्ता से ही सम्पर्क करते हैं । अतः चिकित्सकों तथा अन्य वर्ग के कार्यकर्ताओं के विशेष प्रशिक्षण की भी आवश्यकता कम नहीं है । यह कार्य योजनाबद्ध रूप से स्वास्थ्य तथा समाज कल्याण विभाग सम्मिलित रूप से कर सकते हैं । इस योजना का क्रियान्वयन चिकित्सक ही करने में सक्षम है । मंत्रीगणों की समिति ही इस कार्य को सफलतापूर्वक कर सकती है । मध्यप्रदेश में पंचायती राज व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी है । इस व्यवस्था का उपयोग विकलांग कल्याण के लिये किया जा सकता है । सर्व प्रथम जिला पंचायतों को विकलांगता से संबंधित साहित्य उपलब्ध कराने से ग्रामीण क्षेत्र में जागरूकता बढ़ेगी, तथा इस वर्ग के कल्याण तथा सहायता में समाज अधिक सक्रिय हो सकेगा ।

विकलांग वित्त एवं विकास निगम - पवित्र उद्देश्य- प्राप्ति कठिन

विकलांग वर्ग की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के सुधार के प्रयास दुसरी शताब्दी में सम्राट अशोक के समय से ही प्रारंभ हो गये थे। वैसे तो प्रयास सतत है किन्तु समस्या की विकरालता, धीमी गति तथा मुख्य रूप से धन की कमी के कारण समस्या के निराकरण से हम कोसों दूर है। इन्हीं प्रयासों के अन्तर्गत ब्रिटिश साम्राज्य के समय भी संस्थागत शिक्षा तथा प्रशिक्षण का कार्य 1980 में ब्रिटिश प्रणाली से भी किया गया। स्वतंत्रता के पूर्व तथा पश्चात आज तक किये गये प्रयास शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित रहे हैं।

विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारतवर्ष की स्थिति एकदम भिन्न हैं। देश की आबादी का 80 प्रतिशत भाग 5 लाख गाँवों में रहता है। दृष्टिहीन तथा अन्य विकलांग वर्ग भी इसी प्रतिशत या इससे भी अधिक मात्रा में ग्रामीण क्षेत्र में ही रहते हैं - जहाँ कार्य तो दूर इस विषय की जानकारी संबंधित विकलांग तथा दृष्टिहीन व्यक्ति को उपलब्ध न तो है न वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत उपलब्ध होना संभव है।

ग्रामीण क्षेत्र के विकलांग व्यक्तियों के सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्वसन के लिये इस क्षेत्र के अनुभवी तथा प्रभावशाली व्यक्तियों ने समय-समय पर मत व्यक्त कर समस्या के समाधान का प्रयास किया है। इस प्रकार के प्रयास तथा विकलांग अधिनियम के संसद में पारित होने के बावजूद भी इस क्षेत्र में कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है जो भी तथाकथित कार्य हुआ है वह भी स्वयंसेवी संगठनों के माध्यमों से शहरी क्षेत्र में हुआ है - वह भी हमेशा संदेहास्पद ही रहा है। इस चिन्ताजनक स्थिति से उबरने तथा विकलांग वर्ग को आत्मनिर्भर बनाने के पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर राज्य सरकार ने इस वर्ग के लिये शासकीय सेवा में 6 प्रतिशत पद आरक्षित किये हैं किन्तु विकलांग जनसंख्या की बाहुल्यता (जनसंख्या का 10 प्रतिशत) की तुलना में आरक्षित पदों की कमी, कम संख्या तथा आरक्षित पदों पर नियुक्ति पाने की कठिनाइयों के कारण समस्या का निराकरण लगभग असंभव ही है। इस विकराल समस्या के निराकरण हेतु स्वरोजगार को एक उपाय मानकर भारत सरकार के कल्याण मंत्रालय वर्तमान में सामाजिक न्याय तथा अधिकारिता ने कम्पनी एक्ट 1956 के अन्तर्गत 24 जनवरी 1997 को एक बहु एवं उच्च उद्देश्यीय राष्ट्रीय विकलांग वित्त एवं विकास निगम की स्थापना की जिसकी पूँजी 400 करोड़ रखी गई है।

इस निगम के माध्यम से विकलांग वर्ग को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराने हेतु एक बहुआयामी योजना भी बनाई गई जिसके 7 अंग हैं। विकलांग वित्त एवं विकास निगम से 50,000/

से 50 लाख रुपये तक का ऋण कम ब्याज पर प्राप्त किया जा सकता है। इस ऋण रूपी सुविधा की प्राप्ति के लिये अर्हताएं तथा शर्तों का भी निर्धारण हुआ है। प्रस्तावित योजनाएं निम्नानुसार है:-

1. लघु उद्योग के माध्यम से स्वरोजगार की स्थापना :- इस योजना के माध्यम से किसी भी प्रकार की सेवा या व्यापार सुझाए गये क्षेत्रों में किया जा सकता है। इस योजना के लिये ऋण की अधिकतम सीमा 2.5 लाख है।
2. विकलांग उद्यमी को सहयोग :- इसके अन्तर्गत 13 क्षेत्र निर्धारित है और ऋण राशि की उच्च सीमा 20 लाख रखी गई है।
3. विकलांग व्यक्ति को उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिये संविधा के माध्यम से प्राप्त उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण का उपयोग, उत्पादन, निर्माण कार्य अथवा तकनीकी एवं उद्यमी विकास की अनिवार्यता रखी गई है।
4. विकलांग व्यक्ति द्वारा कृषि क्षेत्र में कार्य करने के लिये भी ऋण मिल सकता है। जिसकी सीमा 5 लाख है।
5. निर्माण तथा विकलांग व्यक्तियों के लिये उपयोगी यंत्रों के उत्पादन के लिये लघु उद्योग स्थापित करने के लिये आवश्यक ऋण विकलांग व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं जो अधिकतम 25 लाख है।
6. तकनीकी तथा उद्यमी विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने हेतु स्थापित स्वयंसेवी संगठन, आर.आर.टी.सी., मान्यता प्राप्त संस्थाएं तथा चेनेलाइजिंग एजेन्सी के माध्यम से यह कार्य संपादित हो सकता है। इसके अलावा व्यावसायिक तथा कम्प्यूटर केन्द्र को भी स्थापना इसके अन्तर्गत की जा सकती है। वित्त निगम इस कार्य के लिये भी ऋण उपलब्ध कराने के लिये अधिकृत है।
7. मानसिक रूप से विकलांग, सेरीब्रल पाल्सी तथा आत्म विमोह व्यक्तियों के लिये स्वरोजगार स्थापना हेतु उनके पालकों, पति, पत्नी 2.5 लाख रुपये तक का ऋण प्राप्त करने के अधिकारी हैं। इस क्षेत्र के विकलांग व्यक्तियों के लिये 16 प्रकार के कार्य क्षेत्र सुझाये गये हैं।

विकलांग वित्त तथा विकास निगम से ऋण प्राप्ति के लिये मापदंड तथा निम्न अर्हताएं निर्धारित की गई है :-

1. यह योजना बेरोजगार विकलांग व्यक्तियों को ऋण उपलब्ध कराने के लिये हैं।
2. ऋण प्राप्तकर्ता विकलांग व्यक्ति या विकलांग व्यक्तियों का समूह होना चाहिये।
3. विकलांगता भी परिभाषित की गई हैं।
4. शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र के विकलांग व्यक्तियों के परिवार की वार्षिक आय क्रमशः 60,000, 55,000 से अधिक नहीं होनी चाहिये।
5. विकलांग वित्त एवं विकास निगम के सहयोग से स्थापित उद्योग अथवा अन्य कार्य में 15 प्रतिशत विकलांग व्यक्तियों को रोजगार देना अनिवार्य बनाया गया हैं।
6. इस योजना का लाभ भारतीय मूल के विकलांग व्यक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं।
7. विकलांग व्यक्ति संबंधित राज्य/प्रान्त का स्थानीय निवासी होना चाहिये। जहां योजना स्थापित करना प्रस्तावित है।
8. संबंधित विकलांग व्यक्ति को प्रासंगिक, शैक्षणिक, तकनीकी, व्यावसायिक योग्यता/अनुभव अथवा पृष्ठभूमि आवश्यक है।
9. संबंधित व्यक्ति पर किसी अन्य संस्था का न तो कर्ज होना चाहिये, न ही ऋण अदायगी में किसी प्रकार का डिफाल्टर होना चाहिये।
10. संबंधित विकलांग व्यक्ति की आयु 18 वर्ष से कम तथा 55 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिये।

विकलांग वित्त तथा विकास निगम दो मदों में आर्थिक सहायता उपलब्ध कराता है:-

1. **टर्म लोन :-** अधिक तक सीमा 5 लाख, अधिकतम ब्याज दर 10 प्रतिशत।

2. **सीड केपीटल :-** उस विकलांग व्यक्ति को दी जाती है जो टर्म लोन के अन्तर्गत अपना अंश (शेअर) नहीं दे सकता है। इस मद पर ब्याज नहीं लगता है किन्तु 1 प्रतिशत सेवा शुल्क देना होता है।

उपरोक्त आर्थिक सहायता पर ब्याज की दरें भी निर्धारित की गई जो ऋण राशि पर आधारित हैं। ब्याज की अधिकतम दर 10 प्रतिशत लगाई गई है। पूर्ण ऋण अदायगी 7 वर्षों में करना होता है। समय पर ऋण अदायगी न करने की स्थिति में 3 प्रतिशत दंडिक ब्याज लगता है। ऋण अदायगी के लिये जमानत भी देना होती है :-

इस योजना के अन्तर्गत महिला विकलांगों के लिये विशेष राहत प्रावधान बनाया गया है। उनके लिये ब्याज की दरें 2 प्रतिशत कम होगी। समय पर ऋण अदायगी के लिये प्रोत्साहन स्वरूप 0.5 प्रतिशत ब्याज की छूट भी होगी। ऋण प्राप्ति के लिये आवेदन का प्रारूप भी बनाया गया है तथा प्रक्रिया का भी निर्धारण हो चुका है।

विकलांग वित्त एवं विकास निगम से ऋण प्राप्त करने के लिये मध्यप्रदेश सहित देश के 14 राज्यों में चेनेलाईजिंग एजेन्सी उपलब्ध हैं। मध्यप्रदेश में इस प्रकार की 04 एजेन्सियाँ हैं। म.प्र. पिछड़ा वर्ग एवं विकास निगम, म.प्र. राज्य सहकारी अनुसूचित जाति एवं विकास निगम, म.प्र. आदिवासी वित्त एवं विकास निगम तथा म.प्र. अल्प संख्यक वित्त एवं विकास निगम, विकलांग वित्त विकास निगम की स्थापना को दो वर्ष से अधिक समय बीत गया है। जानकारी के अभाव में इसका लाभ विकलांग व्यक्ति नहीं उठा पा रहे हैं। इस विषय पर समग्र रूप से विचार करना होगा। विभिन्न प्रकार की विकलांगता के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं को या तो स्वयं या विकलांग व्यक्ति को स्वरोजगार स्थापित करने के लिये प्रेरित करना होगा। स्वरोजगार स्थापित करना कठिन काम नहीं तो सरल भी नहीं है। ऋण प्राप्ति में आने वाली कठिनाइयाँ तथा लालफीताशाही के माध्यम से उत्पन्न की जाने वाली बाधाओं को भी ध्यान में रखना होगा अन्यथा यह निगम भी उद्योगों की स्थापना हेतु बनाई गई वित्तीय संस्थाओं के समान हो जावेगा, जो कि भ्रष्टाचार के अनूठे केन्द्र बन गये हैं। सावधानी यह भी बरतनी होगी कि इस क्षेत्र की कार्यरत संस्थाओं, व्यक्तियों तथा शासकीय कर्मचारियों के बीच अनावश्यक सामंजस्य न हो जाये, अन्यथा यह भी भ्रष्टाचार का एक और उपक्रम बन जावेगा। इस प्रकार के वातावरण से बचाव के लिये ऋण तथा अनुदान उपलब्ध कराने की प्रक्रिया का सरलीकरण करना होगा जैसा कि मैंने अपने पूर्व प्रकाशित लेख “दिशाहीन स्वयंसेवी संगठन” में उल्लेखित किया है। मैं उत्साहित हूँ कि मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री ने भी स्वतः सरलीकरण प्रक्रिया की आवश्यकता का इन्दौर के एक समारोह में पिछले दिनों उल्लेख किया था। सरलीकरण में पारदर्शिता होना चाहिये जो सब रोगों की रामबाण दवा है।

वैसे तो विकलांग वित्त एवं विकास निगम द्वारा प्रायोजित ऋण शर्तें उदारवादी दिखती हैं, किन्तु आज तक के अनुभव से स्पष्ट है कि हितग्राही तथा विकलांग कल्याण क्षेत्र में कार्यरत संस्थाएं इस योजना के प्रति आकर्षित नहीं हुए हैं। अतः योजना को अधिक उदारवादी बनाना उपयुक्त होगा, इस दिशा में निम्नांकित सुझाव उपयोगी हो सकते हैं :-

1. ऋण पर अधिकतम ब्याज दर 4 प्रतिशत होना चाहिये।
2. हितग्राहियों द्वारा देय इक्की के प्रावधान को विलोपित करना चाहिये।

3. पूर्ण ऋण अदायगी का समय 10 वर्ष से कम नहीं होना चाहिये ।

4. आज के औद्योगिक मंदी के वातावरण में उत्पादित वस्तुओं के लिये मार्केट को तलाशना कठिनतम कार्य है । यह कार्य विकलांग व्यक्तियों के लिये और भी कठिन है । इन तथ्यों के तथा अन्य आधार पर उचित होगा कि विकलांग वित्त तथा विकांस निगम द्वारा सहायता प्राप्त उद्योगों द्वारा उत्पादित यंत्र तथा अन्य सामग्री शासन स्वयं क्रय कर इस क्षेत्र में कार्यरत् संस्थाओं को तथा अन्य हितग्राहियों को विक्रय करें । विकलांग कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत् स्वयंसेवी संगठन तथा अन्य विकलांग व्यक्ति का इन उत्पादन केन्द्रों द्वारा उत्पादित सामग्री के क्रय करने को अनिवार्य बनाया जावे । फलस्वरूप विकलांग व्यक्तियों के स्वरोजगार के प्रति आकर्षित होने के अलावा इस प्रकार के उत्पादन केन्द्र लोकप्रिय भी हो सकेंगे ।

5. ग्रामीण विकलांग व्यक्तियों के पुनर्वसन हेतु खादीग्रामोद्योग विभाग उपयोगी भूमिका निभा सकता है । इस विभाग से सामजस्य स्थापित करने से समस्या के निराकरण में सहायता मिल सकती है ।

आज की सामाजिक तथा राजनीतिक विषम स्थिति के कारण देश का विकलांग वर्ग भी शासकीय सेवा के प्रति आकर्षित हुआ है । फलस्वरूप स्वरोजगार योजनाएं तथा समूदाय मूलक पुनर्वसन कार्यक्रम अपेक्षित लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं हो पायी है । इस विषम वातावरण को दूर करने का दायित्व भी सामाजिक संगठनों पर आया है । आज देश में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय (तथा कथित) समाजसेवी संगठनों की कमी नहीं हैं इन संस्थाओं का भी अवमूल्यन हुआ है । देश का सामान्य नागरिक इनके प्रति सामान्य दृष्टि कोण भी नहीं रखता है । इन संस्थाओं को भी अपने आपको पुनःस्थापित करने तथा विकलांग व्यक्तियों के प्रति दायित्व निभाने के लिये इस क्षेत्र को अपना कार्यक्षेत्र बनाना उपयुक्त माना जावेगा । अन्यथा आज की तरह समाज सेवा समाचार पत्रों तथा भोजन तक ही सीमित रहेगी । इस वातावरण को दूर करने में ऋण तथा अनुदान प्राप्ति की प्रक्रिया का सरलीकरण महती भूमिका निभा सकता है । इन सब परिस्थितियों के होते हुए भी विकलांग वित्त एवं विकास निगम की स्थापना एक उच्च उद्देश्यीय प्रयास है जिसकी सफलता में सर्वदलीय, सर्वजन सहयोग अपेक्षित ही नहीं आवश्यक भी है- और यही सफलता की कुँजी भी है ।

दिशाहीन स्वयं सेवी संगठन

प्राकृतिक विपदाओं के समय सहायता, निराश्रित व्यक्तियों को मदद, गरीबों के प्रति सहानुभूति, सहायता करना भारतीय संस्कृति का एक अंग है तथा भावनाओं से जुड़ा हुआ है, प्रचार-प्रसार से दूर रहने वाले तो गुप्त दान भी देते थे। इस प्रकार के सारे कार्य छुट पुट रूप में स्थानीय स्तर पर अनादिकाल से होते आये हैं जिनके लिये न तो कोई संगठन थे न ही कोई औपचारिक व्यवस्था थी। संगठित रूप से इस प्रकार की सहायता तथा सहयोग योजनाबद्ध रूप से करने का कार्य एन.जी.ओ. के नाम से पहचानी जाने वाली गैर शासकीय संस्थाओं के माध्यम से प्रारम्भ हुआ जिसका इतिहास भी पुराना नहीं है। इनका उद्भव सामाजिक सुधार आन्दोलन के अन्तर्गत 19 वीं सदी में पुरातन धार्मिक व्यवस्था के कारण, समाज सुधार के उद्देश्य से प्रारम्भ हुआ। 20 वीं सदी में यह आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो गया, और स्वतंत्रता के तत्काल बाद सरकार के साथ जुड़ गया। 1960 के लगभग यह बात स्वीकार हो गई कि नेहरू दर्शन के तहत सारी समस्याओं का निराकरण असम्भव है। फलस्वरूप स्वयं सेवी संगठन का अलग से वर्ग बन गया। 1970 के आसपास के वर्षों में आदर्शवादी युवा शक्ति ने स्वयं सेवी संगठनों को सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के लिये उपयुक्त एवं प्रभावशाली माध्यम मानकर विभिन्न प्रकार के कल्याणकारी कार्यक्रम प्रारम्भ किये।

इतना सब होने के बाद भी गैर शासकीय संगठनों- एन.जी.ओ. की व्याख्या परिभाषित आज तक नहीं हुई, न ही कार्यक्षेत्र का कोई निर्धारण हुआ- फलस्वरूप अपने-अपने ढंग से इन संस्थाओं ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। स्वाभाविक रूप से आर्थिक सहायता के स्रोत भी ढूँढे गये- विदेशों से भी सहायता प्राप्त होने लगी। आर्थिक सहायता मिलने के कारण प्रभाव बढ़ा और विस्तार भी हुआ। एन.जी.ओ. के नाम से जानी जाने वाली संस्थाओं की संख्या के बारे में अधिकृत जानकारी तो उपलब्ध नहीं हो पायी किन्तु एक अनुमान से इस प्रकार के संगठनों की संख्या 5 लाख और दूसरे अनुमान से 30 लाख है।

इस प्रकार की संस्थाओं के कार्यक्षेत्र निर्धारित न होने के कारण कार्यक्षेत्र चौंकाने वाले हैं जैसे निजी चिकित्सालय, वाटरशेड मैनेजमेंट, अनुसंधान, शैक्षणिक संस्थाएँ, धर्म विशेष का विस्तार, अनाथालय, वृद्धाश्रम, विकलांगता के क्षेत्र, प्राकृतिक विपदाओं के समय सहयोग इत्यादि। स्वयं सेवी संगठनों को भारतवर्ष में शासकीय स्रोत से उपलब्ध धन की वार्षिक राशि 250 करोड़ है। इसके विपरीत विदेश से प्राप्त राशि 3,000 करोड़ के लगभग है। बांग्लादेश जैसे नये देश में विकास के लिये उपलब्ध राशि का 80/90 प्रतिशत गैर शासकीय संगठनों के माध्यम से खर्च किया जाता है।

विकलांगता के क्षेत्र में भी गैरशासकीय संगठन कार्यरत हैं। इस क्षेत्र की उपेक्षा को समाप्त करने, विकलांग व्यक्तियों के पुनर्वसन तथा कल्याण के लिये 1995 में अधिनियम भी बना। अधिनियम के क्रियान्वयन की प्रक्रिया भी निर्धारित की गई और आर्थिक सहयोग के भी प्रावधान किये गये हैं। इस क्षेत्र में भी कार्यरत संस्थाओं की संख्या अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। आर्थिक सहायता प्राप्त होने की अपेक्षा में संख्या बढ़ना अप्रत्याशित नहीं होगी।

समाजसेवी संगठनों की संरचना तथा वर्तमान कार्यप्रणाली पर भी एक दृष्टि डालना सामयिक होगा। इस प्रकार की संस्थाओं का गठन रजिस्ट्रेशन ऑफ फर्म्स एंड सोसायटीज 1860 के उदारवादी कानून के अन्तर्गत किया जाता है जिसके अन्तर्गत कुछ व्यक्तियों के समूह मिलकर संस्था बनाते हैं, पंजीयन हो जाता है और संगठन सेवा के लिये तैयार। विडम्बना है कि इस प्रकार के संगठनों के बारे में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसके अन्तर्गत सदस्यों की पृष्ठभूमि, कार्यक्षमता, शैक्षणिक योग्यता तथा संबंधित क्षेत्र के अनुभव की न्यूनतम आवश्यकता निर्धारित की गई हो। चूंकि 1860 के इस पुरातन कानून में आज तक कोई संशोधन नहीं हुआ है फलस्वरूप आज के गिरते नैतिक परिदृश्य के कारण स्वार्थी, भ्रष्ट, अशिक्षित, अनुभवहीन लोगों को इसके खुले दुरुपयोग की छूट मिल गई है। परिणामस्वरूप पूरे क्षेत्र के ऊपर कालिख पुत गई और भ्रष्टाचार की कहानियां समाचार पत्रों में समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। उदाहरणार्थ ग्रामीण व रोजगार मंत्रालय को कौंसिल फॉर एडवांसमेंट ऑफ पीपुल्स एक्शन एवं रूरल टेक्नालॉजी (कपार्ट) की 1400 योजनाओं की पुनर्समीक्षा कराने का निर्णय लेना पड़ा क्योंकि इस संस्था की संदेहास्पद गतिविधियों पर बार-बार ऊंगली उठी है। यहां तक कि पूर्व केन्द्रीय कल्याणमंत्री ने तो यहां तक कह डाला कि सरकारी अनुदान लेने वाली 90 प्रतिशत संस्थाएं लुटेरी हैं। सी.बी.आई. ने 61 ऐसी संस्थाओं के भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच की थी जिन्होंने करोड़ों रुपयों का अनुचित उपयोग किया था। पूर्व में केन्द्रीय ग्रामीण मंत्रालय ने 378 एन.जी.ओ. को काली सूची में डाला था। एक समय तो एक वर्ष में 564 स्वयं सेवी संगठनों पर आर्थिक धोखाधड़ी के आरोप लगने के कारण ब्लैक लिस्ट किया गया था। खेद का विषय है कि सेवा जैसी आदर्श भावना को भी आज राजनीति जैसा व्यवसाय बना दिया गया है। इस प्रकार के स्वयं सेवी संगठन फॉरेन कान्ट्रीब्यूशन एक्ट के अन्तर्गत पंजीयन प्राप्त कर विदेशों से आर्थिक सहयोग प्राप्त करने की पात्रता भी अर्जित कर लेते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार देश में 15,000 ऐसी संस्थाएं पंजीयत हैं। इस तरह से कार्यरत संगठन संचालक मंडल के सदस्य, उनके पुत्र, पुत्री, पुत्रवधु, दामाद या अन्य नजदीकी रिश्तेदारों तथा स्वयं के लिये आर्थिक लाभ के लिये विपुल स्रोत बन गये हैं। हितग्राहियों तथा समाज को कितना लाभ होता होगा यह तो संभवतया ईश्वर भी नहीं जानता। विषमता तो यहां तक फैल गई कि इस प्रकार के संगठन राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन, मिशनरीज ऑफ चेरिटी संगठन भी चला रहे हैं। ऐसे संगठनों से आज के नैतिक शून्य वातावरण में अपेक्षा बेमानी

है। इसके साथ ही समाज सेवा का रोग संक्रामक रूप से इस देश में फैला। प्रत्येक व्यक्ति आज समाज सेवा के लिये लालायित है। जाति, धर्म, स्थानीयता तथा अन्य इस प्रकार के आधार पर गठित नये-नये संगठन भी सेवा के क्षेत्र में पदार्पण कर गये हैं। पाँच सितारा होटलों में आयोजन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने भी इस क्षेत्र को अपना लिया है जिनके सेवा के क्षेत्र भी विचित्र हैं जैसे पाठशालाओं में टाटपट्टी, पानी की टंकी, कागज-पेंसिल जैसी सामग्री का वितरण, ब्लड ग्रुप कराना (रक्तदान नहीं) इत्यादि। इन संगठनों के सदस्यों द्वारा किये गये रक्तदान के उदाहरण ढूँढने पर भी कठिनाई से ही मिल सकेंगे। व्यक्तिगत/शारीरिक श्रम द्वारा सम्पादित होने वाले समाजसेवा के कार्यों से ये सेवारत संगठन दूर रहना ही उचित समझते हैं। इन संगठनों के वार्षिक बजट का 70-80 प्रतिशत खर्च भोजन तथा (समाज सेवा को छोड़कर) मनोरंजन जैसी अन्य गतिविधियों पर होता है। अतः इस श्रेणी में सम्मिलित कर उनके साथ अन्याय करना होगा- जिस तरह विशिष्टजन को “झेड” श्रेणी की सुरक्षा प्रदान कर उन्हें अतिविशिष्ट माना जाता है उसी तरह ये संगठन भी “झेड” श्रेणी के ही समकक्ष हैं। इस निराशावादी वातावरण के कारण कम से कम समाजसेवा के क्षेत्र में सुधारों की आवश्यकता है। चूँकि प्रत्येक कार्य के लिये न तो सरकार पर निर्भर रहना चाहिये न ही सरकार के लिये इस प्रकार के सब कार्य संभव हैं। अतः गैर शासकीय संगठनों की भूमिका न केवल महत्वपूर्ण है वरन् इसके विस्तार की भी आवश्यकता है। इस क्षेत्र में दूषित वातावरण समाप्त करने के लिये कड़े कदम उठाने पड़ेंगे जिनका विरोध भी संभव है। मेरे मत में निम्नांकित बिंदुओं पर आवश्यक कार्यवाही से वातावरण में परिवर्तन आवेगा, पारदर्शिता बढ़ेगी, सुधार होगा, सेवा सेवा ही रहेगी न कि व्यवसाय जो हम आज देख रहे हैं।

इस दूषित वातावरण को समाप्त करने की इच्छाशक्ति आज भी समाज में विद्यमान है जिसका दोहन नहीं के बराबर है। यह भी इतना ही सत्य है कि वातावरण दूषित तो अवश्य है किन्तु एकदम निराशाजनक नहीं। कुछ गैर शासकीय संगठन अच्छा काम भी कर रहे हैं और प्रशंसा के पात्र भी हैं। उनकी भी कठिनाइयाँ हैं जिनका निराकरण भी उतना ही आवश्यक है। समस्याओं के निराकरण के अभाव में कम संख्या वाले इस श्रेणी के संगठन भी लुप्त हो जावेंगे।

यह कटु सत्य है कि लालफीताशाही के भरपूर उपयोग से प्रशासनिक तंत्र अच्छी-अच्छी योजनाओं के रास्ते में विघ्न पैदा करता है ताकि उनको मेहनताना के रूप में अच्छी खासी राशि मिल जावे। इसका दुष्परिणाम है कि योजना की राशि में पूर्व से ही इसका समावेश हो जाता है। इस राशि को नियमित करने के लिये भी झूठे सच्चे आंकड़े दिये जाते हैं। इस पर नियंत्रण भी आवश्यक है और कार्यप्रणाली में आमूल परिवर्तन। इस दिशा में एक सुझाव है कि इन योजनाओं के परीक्षण तथा निर्णय के लिये एक तीन सदस्यीय समिति गठित की जावे

जो कि अधिक से अधिक 15 दिन के समय में निर्णय करे। तीन सदस्यीय समिति का अध्यक्ष अधिकार प्राप्त उच्च स्तरीय शासकीय अधिकारी हो तथा दो अशासकीय व्यक्ति सदस्यों के रूप में सम्मिलित हों जैसा कन्ज्यूमर फोरम के गठन में होता है। यह समिति समस्त गैर शासकीय संगठनों की आवश्यकताओं का परीक्षण, पूर्ति तथा कठिनाइयों का निराकरण भी कर सकेगी। इस बिंदु के निराकरण के लिये अधिकतम समय सीमा भी निर्धारित की जावे जो प्रत्येक स्थिति में 3 माह से अधिक न हो। विलम्ब के लिये संबंधित व्यक्ति को दण्ड देने का प्रावधान भी आवश्यक है।

गैर शासकीय संगठनों पर नियंत्रण तथा सरकार से लगातार संवाद के लिये केन्द्र सरकार के कल्याण मंत्रालय तथा राज्य सरकारों के समाज कल्याण विभागों में अलग से प्रशासकीय तंत्र (व्यवस्था) बनाई जावे। इस व्यवस्था पर न तो विभाग के अन्य भाग से कोई संबंध हो न ही कोई नियंत्रण तथा हस्तक्षेप। इस प्रकार की समाजसेवी संस्थाओं के उचित कार्यों से न केवल शासकीय तंत्र का बोझ कम होगा अपितु समाजसेवा के लिये उचित एवं अधिक सक्षम वातावरण भी निर्मित हो सकेगा। आज के स्वयं सेवी संगठन उदारवादी कानून 1860 के अन्तर्गत पंजीकृत हो रहे हैं। वर्तमान परिदृश्य एवं वास्तविकताओं के संदर्भ में इस कानून के स्थान पर नये कानून की तत्काल आवश्यकता कतिपय क्षेत्रों में महसूस की जा रही है, जिसमें संस्थाओं की संख्या, उद्देश्य, कार्यक्षेत्र, सदस्यों के लिये आवश्यक मापदण्ड तथा अन्य प्रावधानों का समावेश हो जो वर्तमान कानून में नहीं है। इस कानून के अन्तर्गत यह भी सुनिश्चित किया जावे कि समान उद्देश्य वाली संस्थाओं के संविधान, नियम तथा उपनियम पूरे देश में एक जैसे हों। राजनीतिक दलों को इस क्षेत्र से दूर ही रखा जाने का प्रावधान भी उपयोगी सिद्ध होगा।

वर्तमान संदर्भ में गैर शासकीय संस्थाओं की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। इनकी गतिविधियां तो विस्तारित ही होंगी। उसके लिये सरकार तथा इन संस्थाओं के बीच सतत संवाद आवश्यक है। इस परिप्रेक्ष्य में योजना आयोग द्वारा दो वर्ष पूर्व तैयार कराई गई रपट पर विचार तथा कार्यवाही से इस क्षेत्र में सुधार हो सकेगा, अन्यथा यह रपट भी मंत्रालय में दबी रहेगी और इस दिशा में किया गया प्रयास निरर्थक साबित होगा जैसा आज तक होता आया है।

खण्ड चार

वृद्धावस्था



1. वृद्धजन को समर्पित वर्ष 1999 की सार्थकता ।
2. वृद्धों की अवहेलना नहीं सम्मान कीजिए
3. वृद्धावस्था अभिशाप या वरदान ।
4. अपर्याप्त है वृद्धजनों को उपलब्ध सुविधाएं ।
5. वरिष्ठ नागरिकों के रोग एवं उपचार व्यवस्था ।



वृद्धजन को समर्पित वर्ष 1999 की सार्थकता

संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 1999 को वृद्ध व्यक्ति वर्ष घोषित कर एक नई चेतना जगाने का सार्थक तथा रचनात्मक प्रयास किया है। इस घोषणा के माध्यम से वृद्ध व्यक्ति तथा वृद्धावस्था से संबंधित समस्त पहलुओं का समझने का एक अनूठा अवसर भी उपलब्ध हुआ है।

सर्वप्रथम तो यह जानना उपयुक्त होगा कि वृद्धावस्था क्या है, क्यों आती है, इस श्रेणी के व्यक्तियों की संख्या कितनी है, और इस स्थिति के निर्माण में कौन-कौन से कारक भूमिका निभाते हैं।

सर्वविदित तथ्य है कि प्रकृति एवम् मानव जाति में परिवर्तन अवश्यभावी है। प्रकृति परिवर्तन के नियमानुसार कार्य करती है उसी तरह मनुष्य का जीवन भी चक्रीय सिद्धांत पर आधारित है जिसके अनुसार परिवर्तन होता रहता है और चुनौतियों से भरपूर भी होता है।

आज वृद्ध व्यक्ति भी वृद्ध नहीं कहलाना चाहता है। अतः इस वर्ग के लिये वरिष्ठ नागरिक शब्द का उपयोग होने लगा है। वृद्ध व्यक्ति से तात्पर्य निकलता है कि इसका प्रयोग शारीरिक रूप से अशक्त तथा निर्बल, आर्थिक रूप से कमजोर तथा असहाय एवम् दूसरों पर निर्भरता वाले व्यक्ति के रूप में पहचाना जाता है। सत्य होते हुए भी ये अलंकार सुहाते नहीं हैं। सचमुच में देखा जाय तो वृद्धावस्था न कोई पाप है न ही दुर्भाग्य, न ही रोग न ही अपराध है। वह न तो किसी के कहने से आता है न ही जाता है। यह तो वह अवस्था है जो सौभाग्यशाली व्यक्तियों को ही प्राप्त होती है जिन्होंने जीवन की सक्रियता के 60 वसन्त देख लिये हैं। इस शाश्वत सत्य को सहर्ष स्वीकार कर जीवन के इस भाग को सुखमय बनाना चाहिये न की नारकीय।

इस वर्ग के व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि का कारण बेहतर खान-पान तथा चिकित्सीय कार्यों को ही देना पड़ेगा। सन् 1931 में एक भारतीय की औसत आयु 27.5 वर्ष थी, 1961 में 47.5 हुई तथा आज 66 वर्ष के लगभग है। भविष्य में इससे अधिक ही होगी कम नहीं हो सकती। आज जनसंख्या का 9 प्रतिशत भाग वृद्ध व्यक्तियों का है जो भविष्य में बढ़कर 30 प्रतिशत तक हो सकता है। उसी प्रकार वर्ष 1991 में वरिष्ठ नागरिकों की संख्या 5 करोड़ 60 लाख थी जो सन् 2011 में बढ़कर 11 करोड़ 30 लाख तक पहुंचने का अनुमान है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां 60 वर्ष से अधिक आयु वाली 84 % महिलाएँ तथा 65% पुरुष कृषि के कार्यों में संलग्न रहते हैं। वर्तमान समय में वरिष्ठ नागरिकों की शैक्षणिक योग्यता भी उत्साहवर्धक नहीं है। सन् 1991 में इस वर्ग के 73% लोग अनपढ़ थे, 10% प्राथमिक शिक्षा

प्राप्त, 3% दसवीं पास तथा 1% स्नातक स्तर तक शिक्षित थे ।

प्रत्येक स्थिति में गुण तथा दोष दोनों ही होते हैं । यह तथ्य वृद्धावस्था पर भी चरितार्थ होता है । गुणों से तो लाभ मिलता ही है किन्तु दोष विषमता तथा समस्याओं की जननी होता है । वर्तमान परिवेश में देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों में लगभग क्रांति आई है और परिवर्तन सामने दिखाई दे रहा है । आज के युवा वर्ग (कल का वृद्ध) का ध्यान केवल स्वतः तक सीमित होकर रह गया है । स्वतः का विकास, आर्थिक समृद्धता, सुख साधनों की प्राप्ति, स्वयं तथा संतान के उज्ज्वल भविष्य की अभिलाषा तक केन्द्रित होकर, वह अत्यन्त महत्वाकांक्षी बन गया है । फलस्वरूप माता पिता या अन्य वृद्ध परिवारजन उपेक्षा के शिकार बन गये हैं । यह स्थिति बुद्धिजीवी तथा अनपढ़ में समान रूप से देखी जाती है । यह संस्कृति पाश्चात्य देशों की देन है और आज भी विकसित राष्ट्रों में भारत वर्ष की अपेक्षा अधिक मात्रा में है । किन्तु इस क्षेत्र में हमारे विकास की गति अधिक होने के कारण समृद्ध राष्ट्रों के निकट पहुंचने जा रहे हैं ।

इस स्थिति के निर्माण का दोष किसी एक वर्ग को नहीं दिया जा सकता है । आज के वृद्धजन भी इस दोष को अर्जित करने में सहभागी है । इसके अतिरिक्त इस स्थिति के निर्माण हेतु औद्योगिकरण, नगरीयकरण शिक्षा प्रणाली, पर्यटन, वैज्ञानिक अनुसंधान तथा मिडीया की भी भूमिका रही है किन्तु बदले हुए परिदृश्य में इन्हें पूर्ण रूप से दोषी नहीं माना जा सकता है । इससे जुड़ा हुआ एक तथ्य है कि इन परिवर्तनों के साथ क्या भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा संयुक्त परिवार प्रणाली की महत्ता को क्षीण करना उचित है । इन मूलभूत तथ्यों को सही मानना उचित होगा । यथार्थ में वस्तु स्थिति कुछ और ही है । उत्तर प्राप्त कर उन पर अमल करने से वृद्धजनों के लिये उत्पन्न समस्याओं के निराकरण की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं । वृद्ध व्यक्ति वर्ष 1999 की सार्थकता हेतु किस प्रकार के प्रयास आवश्यक हो सकते हैं । इन प्रयासों को लामबद्ध करना भी एक जटिल कार्य है । मेरे मत में तीन स्तरीय आयोजन एवम् आडम्बर रहित प्रयास फलदायक सिद्ध हो सकते हैं । जिनकी मूल अवधारणा सामाजिक होना आवश्यक प्रतीत होता है ।

(1) अन्तर्राष्ट्रीय (2) राष्ट्रीय (3) स्थानीय

अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा वर्ष 1999 वरिष्ठ नागरिकों को समर्पित किया जा चुका है । फलस्वरूप इस कार्य का शुभारंभ हो चुका है और गति अपेक्षित है । किन्तु यह पर्याप्त नहीं है । अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक संगठनों को भी इसमें भागीदार होना चाहिये । राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार के कई संगठन आज हमारे देश में कार्यरत हैं । वर्तमान कार्य प्रणाली में अधिकांश संगठन पाखंड के अनूठे उदाहरण हैं । संबंधित संगठनों की कार्य प्रणाली

में परिवर्तन से ये संगठन इस क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य करने की क्षमता रखते हैं। स्थानीय स्तर पर इन संगठनों को ग्रामीण क्षेत्रों में संगोष्ठियाँ तथा चौपाल चर्चा आयोजित करना चाहिये। इससे सुखद आशातीत परिणाम अवश्य मिल सकते हैं।

अन्य उपाय -

(1) इस सामाजिक अभिशाप से मुक्ति दिलाने में धर्मगुरु तथा धर्मस्थलों की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। आज भी हमारे देश में धर्मगुरुओं को सम्मान प्राप्त है और धर्मस्थानों पर उपस्थिति भी पर्याप्त रहती है। सामाजिक संगठन इस भावना का उपयोग वरिष्ठ नागरिकों के हित में कर सकते हैं और वर्ष 1999 को सार्थक बनाने में अहम् भूमिका निभा सकते हैं।

(2) संयुक्त परिवार प्रणाली को शक्तिशाली करने से तथा वरिष्ठ नागरिकों की समस्याओं के निराकरण में गृहलक्ष्मी की महत्वपूर्ण भूमिका है। क्या कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय तथा अन्य स्तरों पर महिला संगठनों की उपस्थिति के बावजूद इस क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। महिला संगठन सामाजिक सुधार के कार्य पुरुषों से अधिक सक्रियता तथा रचनात्मक ढंग से करने में सक्षम हैं। उनसे सहयोग प्राप्त नहीं किया गया है। इन संगठनों का ध्यान इस विषय पर केन्द्रित करने से वर्ष 1999 की सार्थकता अधिक हो जावेगी।

(3) शिक्षा के क्षेत्र के उपयोग के बारे में विचार होना आवश्यक है। सामान्य ज्ञान की पाठ्य पुस्तकों में एक अध्याय संयुक्त परिवार प्रणाली के लाभ के बारे में जोड़ा जा सकता है। शैक्षणिक संस्थाओं में पूरे वर्ष इस प्रकार की गोष्ठियों के आयोजन से वातावरण अवश्य बदल सकता है।

(4) संबंधित पक्ष युवा वर्ग से सलाह मशविरा आवश्यक है। कई गैर राजनीतिक युवा संगठन कार्यरत हैं। उनकी क्षमता का दोहन भी सुनियोजित ढंग से किया जा सकता है। विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि यह वर्ग भी इस सकार्य में हाथ बंटाकर वर्ष 1999 को ऐतिहासिक वर्ष स्थापित कर सकता है।

(5) इस कार्य को अमली जामा पहनाने में शासन की भूमिका सर्वाधिक है। इस कार्य पर निगरानी सतत रखने का कार्य शासकीय तंत्र के माध्यम से किया जा सकता है। शासन को इस उत्तरदायित्व को वहन करना चाहिये। इस वर्ष की सार्थकता स्थापित करने हेतु प्रयासों के अन्तर्गत शासन को एक सलाहकार मंडल, आयोग या समकक्ष ढांचा बनाना होगा जो केवल इस वर्ष ही नहीं भविष्य में इस कार्य को गति देता रहेगा और वर्ष 1999 को एक मील का पत्थर के रूप में स्थापित करेगा।

वृद्धों की अवहेलना नहीं, सम्मान कीजिए

विडम्बना है कि आज के युग में पुरानी कहावत “कथनी और करनी में फर्क” सबसे अधिक चरितार्थ हो रही है। यह बात अनेक संदर्भों में प्रमाणित हो चुकी है- वृद्ध समुदाय भी उनमें से एक है। वृद्ध व्यक्ति प्रत्येक परिवार में है और होते ही रहेंगे। उनके बारे में जितनी सम्मानपूर्ण उक्तियाँ हमारे यहाँ कही गई हैं वैसी शायद अन्यत्र कहीं न मिले किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। आज का वरिष्ठ नागरिक आदरपूर्वक शब्द से संबोधित होने वाला वृद्ध व्यक्ति न केवल उपेक्षित है, अपमानित भी होता है और परिस्थितिवश उसे यह सहन भी करना पड़ रहा है।

इस परिस्थिति के निर्माण के कई कारण भी हैं जिसमें पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण, भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा संयुक्त परिवार प्रणाली की कम महत्ता प्रमुख माने जा सकते हैं। यह सब स्थितियाँ भारतीय संस्कृति के विपरीत हैं।

पूर्व में तो वृद्ध व्यक्तियों के अपमान तथा उपेक्षापूर्ण व्यवहार के दृष्टान्त ग्रामीण क्षेत्रों में तथा अनपढ़ लोगों में ही दिखाई देते थे किन्तु बदलाव के इस युग में इसका प्रतिशत शहरी तथा बुद्धिजीवी वर्ग में भी कम नहीं है। वैसे यह शाश्वत सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति जो जन्म लेता है वृद्ध होगा ही इसका लगभग वर्णन भी भगवत् गीता में भी किया गया है।

“देहिनोस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुञ्जति ॥

इस स्वीकार करने योग्य उपदेश को आज का समाज क्यों नकारता है समझ से परे हैं। वृद्धावस्था न तो कोई अपराध है न ही कोई पाप है। सचमुच तो यह अनुभव तथा ज्ञान के एक अनुपम संग्रह की स्थिति है जिससे लाभ उठाने तथा उपयोग करने के स्थान पर हम इसे तिरस्कृत करते हैं - चिन्ताजनक तथा विचार का विषय है।

वृद्ध व्यक्ति के प्रति उदासीनता, असम्मान तथा अपमान करने के नये-नये तरीके अपनाये जा रहे हैं जिसमें सारे परिवारजन सम्मिलित रहते हैं। उनके साथ सामान्य बातों में भी भेदभाव किया जाता है जो भोजन, कपड़ा तथा रहने की व्यवस्था में नित नये रूप में देखा जा सकता है। परिवार का प्रमुख जो हमेशा ही उसी वृद्ध का पुत्र होता है इस स्थिति के निर्माण में सहायक हो जाता है। हालांकि इसमें अपवाद भी देखने को मिले हैं - उदाहरणार्थ म.प्र. राज्य के एक वरिष्ठतम अधिकारी अपनी वृद्ध बीमार माँ की व्यवस्था देखने के लिये नियत समय पर नियमित रूप से अपने कार्यालय से आते थे। मेरे बड़े भाई स्व. श्री भंवरलालजी नाहटा ने हमारे पिताजी

की देखभाल में ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया था। अब ऐसे उदाहरण लुप्त होते जा रहे हैं।

आज के वैज्ञानिक तथा सुझबुझ से परिपूर्ण सामाजिक युग में वृद्धजनों के प्रति अनादर को किसी भी स्थिति में उचित नहीं माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि जीवन का यह भाग केवल अच्छा देखने सुनने तथा प्रसन्न रहने के लिए ही होता है। ऐसी सुखद स्थिति की प्राप्ति आज एक सामाजिक आवश्यकता है। आज का युवा वर्ग जो कल का वृद्ध है भूल जाता है कि कदाचित् उसे भी इस प्रकार की भयानक तथा त्रासदीपूर्ण स्थितियों से गुजरना पड़ सकता है। अतः स्वार्थवश ही उसे सभी परिवारजनों के सम्मुख एक आदर्शवादी आवश्यक उदाहरण प्रस्तुत करने का साहस दिखाना चाहिये ताकि वर्तमान तथा भविष्य के वृद्ध व्यक्तियों को इन असहाय स्थितियों का सामना न करना पड़े।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित “वृद्ध व्यक्ति वर्ष” सन् 1999 को वृद्धजनों के लिये इन स्थितियों में बदलाव लाने का एक स्वर्ण अवसर मिला है। अतः वृद्ध व्यक्तियों की समस्याओं के निराकरण की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाना आवश्यक है।

सुधार/परिवर्तन की सारी जिम्मेदारी आज के युवा वर्ग तथा समाज के प्रमुख व्यक्तियों पर है। सर्वाधिक महत्व सोच तथा मानसिकता में परिवर्तन का है। यह कार्य ऐसा तो नहीं जो बाजार से खरीदा जा सकता है। इसके लिये तो लगातार शिक्षा तथा आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता है। जिसका माध्यम भी आत्म चिंतन की ओर इंगित होता है। किन्तु दुर्भाग्य है कि आज इसका सर्वत्र अभाव ही है। केवल आदर्श धर्मगुरु ही इस पुरानी भारतीय संस्कृति को पुनः स्थापित करने में सक्षम दिखाई देते हैं। उनके उपदेशों से संयुक्त परिवार प्रणाली की पुनः सुदृढ़ स्थापना हो सकती है।

इसके अतिरिक्त परिवारजनों विशेषकर पुत्रवधु तथा परिवार की अन्य महिलाओं को संयम तथा वाणी पर नियंत्रण के लिये प्रेरित करना पड़ेगा। यह कार्य केवल उपदेश से नहीं, प्रस्तुत उदाहरणों से ही सम्भव हो सकता है।

उपलब्ध साधनों की सीमायें वृद्धजनों की न्यूनतम आवश्यकताओं की भेदभाव रहित पूर्ति से भी इस वर्ग के व्यक्तियों की भावनाओं को ठेस लगने से बचाया जा सकता है।

सामाजिक तथा स्वयं सेवी संगठनों को आगे आकर वरिष्ठ नागरिक मंच जैसे संगठन स्थापित करना होंगे ताकि वृद्ध नागरीकगण आपस में मिलकर समय का उपयोग कर सकें। इस मंच के माध्यम से ही इस आयु के व्यक्तियों का उनके अनुभव तथा ज्ञान का लाभ पहुंचाया जा सकता है। इसी प्रकार इच्छानुसार इन नागरिकों को वाचनालय पुस्तकालय तथा अन्य समकक्ष

स्थानों पर लाने ले जाने की व्यवस्था से अतिरिक्त समय भी रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सकता है- इस प्रकार की व्यवस्था कुछ विकसित पाश्चात्य देशों में भी उपलब्ध है ।

वृद्धजनों की बढ़ती संख्या को दृष्टिगत रखते हुए उनके सम्मान की रक्षा, भावना, आदर तथा अन्य समस्याओं के निराकरण हेतु व्यावहारिक ढंग से विचार करना चाहिये । ताकि समस्याओं का सम्मानजनक हल निकल सके । अनुरोध यह भी है कि इस कार्य को आयोजनों का चोला न पहनाया जावे अन्यथा समस्या जहां की तहां रही रहेगी जैसा आज हो रहा है । इस पुनित कार्य में केन्द्र तथा राज्य सरकारों को पहल करने से परिदृश्य बदल सकता है?

वृद्धावस्था अभिशाप या वरदान

स्व. राजीव गाँधी ने 21 वीं शताब्दी की निकटता का न केवल स्मरण कराया वरन् भारत के लिये कुछ सपने भी संजोये थे। इस विषय पर चर्चा सतत् है। सचमुच आज हम 21 वीं शताब्दी के प्रवेश द्वार पर पहुंच चुके हैं। इस शताब्दी में हमारा प्रवेश नये राजनीतिक तथा सामाजिक परिवेश में होने वाला है। सामाजिक क्षेत्र पर ध्यान केन्द्रित करें तो सन् 1982 की याद ताजा हो जाती है जब विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 'एड लाइफ टु यीअर्स' का नारा दिया था। संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 1999 को "वृद्ध व्यक्ति वर्ष" घोषित किया है।

सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक बदलाव ने मानवीय दृष्टिकोण बदल दिया है। एक ओर तो सामाजिक क्षेत्र पूर्णतया व्यावसायिकरण से युक्त है और दूसरी तरफ मानवीय कठिनाइयों को दूर करने के सफल प्रयासों ने मानवीय आयु को लम्बा कर वरिष्ठ नागरिकों की संख्या में वृद्धि की है। यह वृद्धि तुलनात्मक दृष्टि से पाश्चात्य विकसित देशों में अधिक तथा भारत में कम है। फिर भी भारतवर्ष की वर्तमान 100 करोड़ जनसंख्या का लगभग 10% इसी वर्ग "वरिष्ठ नागरिकों" का है।

बदलते सामाजिक तथा आर्थिक वातावरण ने वरिष्ठ नागरिकों को एक अशक्त तथा आर्थिक रूप से असहाय निरूपित कर उपेक्षा की ओर धकेल दिया है। विडम्बना है कि अनुभव के अपार संग्रह के जीते जागते, चलते-फिरते उच्च स्तरीय व्यक्ति को अवहेलना तथा अनादर का शिकार होना पड़ रहा है। सत्य तो यह है कि वृद्धावस्था भार नहीं वरदान है। उसकी उपयोगिता एक नहीं, अनेक है। उपयोगिता के क्षेत्र भी कम नहीं है। बाह्य रूप से कमजोर दिखने वाला व्यक्ति ज्ञान और अनुभव का विपुल भंडार है।

वास्तविकता यह है कि 60 वर्ष की आयु के पूर्ण करने के पश्चात मनुष्य को किसी भी कार्य के अनुपयुक्त मानने की वृत्ति शासकीय सेवा से निवृत्ति की देन है। यह सर्वविदित है कि निजी व्यवसाय उद्योग, खेती तथा अन्य क्षेत्रों में आज भी 60 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्ति कार्य कुशलता से करते देखे जा रहे हैं। शासकीय सेवा कार्य समाप्त करने के पश्चात इस वर्ग के लोग भी निजी सेवा में जाकर उपयोगिता सिद्ध कर रहे हैं। आयु से उपयोगिता समाप्त नहीं वरन् अनुभव तथा औसत आयु वृद्धि के कारण उपयोगिता बढ़ती है।

वर्तमान संदर्भ में वरिष्ठ नागरिकों का उपयोग कम से कम चार क्षेत्रों में करने से लाभ मिल सकता है।

1. पारिवारिक 2. आर्थिक 3. शैक्षणिक 4. सामाजिक

1. पारिवारिक क्षेत्र में परिवारजनों के बीच असमंजस्यता के उदाहरण प्रतिदिन दिखाई देते हैं। परिवार प्रमुख वरिष्ठ नागरिक के पारिवारिक परिदृश्य से अदृश्य होने के कारण इस प्रकार की विषम स्थितियाँ निर्मित हुई हैं। परिवार को विघटन से बचाने में सर्वाधिक महत्व परिवार के वरिष्ठजनों का ही है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक संस्कार तथा कार्यप्रणाली को बचाने तथा पारिवारिक समृद्धि यही व्यक्ति दे सकता है। परिवार में निगरानी, सतर्कता तथा पहरेदार की भूमिका केवल वरिष्ठ नागरिक ही निभा सकते हैं। भेदभाव तथा अन्य पारिवारिक विवादों जैसी विषमताओं से परिवार को दूर रखने का माध्यम वरिष्ठ नागरिक ही हो सकता है। जिस देश में 60 वर्ष से अधिक आयु की 84% महिलाएँ तथा 68% पुरुष खेती का कार्य करते हों तो उनकी उपयोगिता अन्य क्षेत्रों में भी कम नहीं हो सकती है।

2. शैक्षणिक कार्य कोई साधारण नहीं है। बच्चों को शिक्षा देना कठिन होता है। पढ़े-लिखे वरिष्ठ नागरिकजन परिवार के नाती पोते, पोतियों की शिक्षा के सूत्रधार सरलता से हो सकते हैं। औपचारिक शिक्षा के अलावा महिलाओं की साक्षरता के लिये भी इनका अमूल्य योगदान हो सकता है। परिवार के सदस्यों के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण निर्मित करने तथा अन्य रचनात्मक प्रवृत्तियों के बारे में मार्गदर्शन यही वर्ग दे सकता है जो सब सदस्यों को सरलता से मान्य भी होगा। औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा का सर्वोत्कृष्ट माध्यम वरिष्ठ नागरिकजन ही हो सकता है।

3. आर्थिक पहलु पर उपयोगिता के बारे में विचार करने से दो तथ्य उभरते हैं :-

(1) अनावश्यक खर्च पर नियंत्रण (2) वृद्धजन द्वारा संचित धन का उपयोग

यह अवधारणा नितांत भ्रामक है कि वृद्ध व्यक्ति परिवार पर आर्थिक रूप से बोझ होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनकाल में क्षमतानुसार संचित धन वृद्धावस्था के लिये सुरक्षित रखता है ताकि वह परिवारजनों पर आर्थिक भार न हो पाये। प्रत्येक व्यक्ति जीवन की समाप्ति पर संचित धन को परिवारजनों को अधिक से अधिक तथा समान रूप से देना भी चाहता है- हालांकि अपवाद भी होते हैं। उदाहरण तो ऐसे भी हैं कि इस वर्ग के कुछ लोग स्वयं पर होने वाले व्यय को प्रतिमाह परिवार को देते रहे हैं - फिर कैसा भार।

पारिवारिक अर्थ व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने का कार्य तथा अनावश्यक खर्च पर प्रतिबंध वरिष्ठ नागरिक सरलता से लगा सकते हैं। इस उपयोगिता के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है।

4. सामाजिक उपयोगिता पर विचार करने से अनेक सारगर्भित तथ्य उजागर होते हैं। सभ्यता और संस्कृति की वृद्धि में वरिष्ठ नागरिकों का योगदान ही सर्वाधिक रहता है। ऐसे उदाहरण पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। मानवता तथा मानवीयता बचाने में वृद्ध व्यक्तियों का अमूल्य सहयोग रहा है। सामाजिक परिपाटियों तथा अंधविश्वास से छुटकारा यही वर्ग दे सकता है। स्वयंसेवी संगठनों की गतिविधियाँ सुचारू रूप से संचालित करने तथा संगठनों में मनमुटाव तथा कलह से दूर रखने के कार्य में यह वर्ग सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

सामाजिक तथा धार्मिक संगठन आज के सामाजिक जीवन के आवश्यक अंग बन चुके हैं। इन संगठनों में भी सेवा के बजाए प्रतिस्पर्धा तथा नियंत्रण करने की भावना प्रमुख हो गई है। व्यावसायिक संगठनों के अनुरूप सामाजिक तथा धार्मिक संगठन भी स्वयं का विकास तथा प्रचार के माध्यम बन गये हैं। फलस्वरूप दूषित वातावरण ही बनता है तथा सेवा कार्य कम एवं विवाद अधिक होते हैं। यहां तक कहा जा सकता है कि सेवा के नाम पर केवल पाखंड ही पाखंड है। स्थिति तो यहां तक पहुंच गई है कि छोटी-छोटी निकाय जैसे बस्तियों की रेसीडेंट संस्थाएँ भी इस भदे वातावरण से मुक्त नहीं हैं। सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त विषमता का मूल कारण ही परिदृश्य पर वरिष्ठ नागरिकों की अनुपस्थिति है। इनमें सुधार वरिष्ठ नागरीकरण ही सुचारू रूप से कर सकते हैं। इस उपयोगिता का महत्व कम कैसे आंका जा सकता है।

स्पष्ट है कि यह वर्ग परिवार तथा समाज से कुछ मांग नहीं रहा है। यह वर्ग तो समाज को कुछ दे सकता है। दुर्भाग्य तो हमारा है कि इतनी ढेर सारी उपयोगिता होने के बाद भी समाज लाभांवित नहीं हो पा रहा है। आज के सामाजिक कर्णधार तथा युवावर्ग पर इस असीम अनुभव के धनी वर्ग के उपयोग से लाभ उठाने का स्वर्णिम अवसर है- विश्वास है कि युवावर्ग इस क्षेत्र में सार्थक पहल आरंभ कर 21 वीं शताब्दी में प्रवेश करेगा।

अपर्याप्त है वृद्धजनों को उपलब्ध सुविधाएँ- विस्तार आवश्यक

वृद्धजनों के लिये सुविधाओं का विचार पुराना नहीं है। स्थापित भारतीय पारिवारिक, सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति में इसकी आवश्यकता कभी नहीं महसूस की गई थी। वृद्धजनों की देखभाल की जिम्मेदारी उनकी संतान तथा निकटस्थ रिश्तेदारों की ही मानी जाती रही है। किन्तु समय के साथ सब कुछ बदला है। वृद्धजनों की देखभाल के संबंध में मानसिकता भी बदली है। इस विषय में भी भारतीय व्यक्तियों/परिवारों ने विकसित देशों का अनुसरण कर उस ओर अग्रसर हुए हैं। इस वैचारिक परिवर्तन के कारण वृद्धजनों को सुविधाएँ उपलब्ध कराने के बारे में सोचा जाने लगा है। पाश्चात्य सभ्यता तथा राष्ट्रों के लिये यह विचार नया नहीं है। परिणाम स्वरूप उन देशों में व्यापक तथा पूर्णरूप से समन्वित नीति अपनाई गई है। अनेक प्रकार की सेवा सुविधाएँ उपलब्ध हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सामाजिक सुरक्षा अधिनियम 1935 में बनाया गया था जो सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। अन्य विकसित तथा आर्थिक रूप से समृद्ध देश जापान में 60 वर्ष से अधिक आयु के पुरुष तथा 55 वर्ष से अधिक आयु की महिलाओं को पेंशन के रूप में सम्मानजनक राशि प्राप्त होती है। इसी देश में वृद्ध व्यक्ति की देखभाल करने वाले व्यक्ति को कर में छुट भी मिलती है। वृद्ध व्यक्तियों को अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध है। ब्रिटेन से हमारा संबंध अलग प्रकार का रहा है। उस देश में सर्वप्रथम 1908 से एक अधिनियम बनाया गया जिसके तहत “ओल्ड एज पेंशन” मिलना प्रारम्भ हुई है। स्वीट्ज़रलैंड, स्वीडन, सोवियत संघ तथा अन्य देशों में भी वृद्धजनों को सुविधाएँ देने हेतु आवश्यकतानुसार कानून बने। इन देशों में सुविधा देने के प्रयास न केवल शासकीय स्तर पर किये गये वरन् सामाजिक संगठन भी सक्रिय होकर वृद्धजनों को सुविधाएँ उपलब्ध कराते हैं। जिससे आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

भारत में पारिवारिक व्यवस्था भिन्न प्रकार की रही है। वृद्धजनों की देखभाल का दायित्व पुत्र ही निभाता रहा है। इस दायित्व की अवहेलना करने वाले व्यक्ति को दंडित करने की व्यवस्था का उल्लेख मनु तथा याज्ञवल्क्य ने किया था। बदले हुए परिवेश ने इस प्रकार की व्यवस्था को लगभग नकार दिया है। फलस्वरूप समाज के तथा शासकीय तंत्र के लिये एक ओर कार्यक्षेत्र बढ़ गया है।

भारत में इस प्रकार की व्यवस्था स्थानीय रूप से 1849 में बेंगलोर में “दी फ्रेंड्स इन नीड” नामक संस्था की स्थापना से हुई थी। तत्पश्चात् 1865 में पूना में डेविड सेसून इनहर्म एसाहलम तथा 1882 में कलकत्ता में एक सामाजिक संगठन का अभ्योदय हुवा। इन संगठनों ने इस क्षेत्र में कार्य को नई दिशा दी, परिणाम स्वरूप 1951 तक पूरे देश में इस क्षेत्र में कार्यरत

अनेक संगठन स्थापित हो चुके थे। इस वातावरण से राज्य सरकारों ने भी वृद्धजनों की समस्याओं के निराकरण तथा कल्याण हेतु पेंशन योजनाएं आरम्भ की हैं। एक अन्य नई पेंशन योजना भी आरम्भ हो चुकी है।

हमारे देश में अधिनियम बनाने की परम्परा भी स्थापित हुई है। 1923 में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1914 में केन्द्र सरकार के साथ राज्य सरकार ने मातृत्व हित लाभ अधिनियम अलग-अलग रूप से पारित किये थे। 1952 में कर्मचारी राज्य बीमा योजना अधिनियम, 1955 में आसाम चाय बागान निर्वाह निधि अधिनियम, 1961 में केन्द्रीय प्रसूति लाभ अधिनियम, 1972 में अनुग्रह रकम भुगतान अधिनियम, 1956 में हिन्दू दत्तक एवं भरण-पोषण अधिनियम पारित कर सुविधाएँ देने के प्रयास हुए। उत्तर प्रदेश सरकार ने 1970 में 70 वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों की सहायता तथा कल्याणार्थ पेंशन योजना प्रारम्भ की थी।

उपरोक्त प्रयासों के अतिरिक्त 1948 में सातवें वित्त आयोग ने सभी राज्यों में वृद्धावस्था पेंशन को समान बनाने पर बल दिया था। 1980-85 में छठी पंचवर्षीय योजना में भी वृद्ध एवं असहाय व्यक्तियों के लिये योजनाएँ बनाने की आवश्यकता प्रतिपादित कर एक नया अध्याय आरम्भ किया था।

इस वर्ग के आवागमन को कम खर्चीला बनाने की दृष्टि से 1989 में रेल विभाग ने वरिष्ठ नागरिकों को यात्रा में छुट देने के कार्य को मूर्तरूप दिया था। स्पष्ट है कि वृद्धजनों की कठिनाइयों तथा समस्याओं को दूर करने की दृष्टि से उल्लेखनीय कार्य तो किये गये किन्तु अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं। उपरोक्त प्रयास तथा जागरूकता के कारण केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने भी समय-समय पर कल्याणकारी योजनाएँ बनाने के पवित्र प्रयास किये इनमें सामाजिक पेंशन योजना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है किन्तु दुर्भाग्य है कि 150 रु. प्रतिमाह की न्यूनतम राशि प्राप्त करने में प्रक्रिया की जटिलता के फलस्वरूप अपेक्षित परिणाम नहीं मिल पा रहे हैं। इस पेंशन राशि की प्राप्ति के लिये रेवेन्यु अधिकारी का निराश्रित होने का प्रमाण-पत्र, एक बार स्वीकारी गई पेंशन को सतत रखने की प्रक्रिया से होने वाले विलम्ब एवं अन्य मानव निर्मित बाधाओं से इस योजना के प्रति वृद्धजन उत्साहित नहीं हैं। इन कठिनाइयों का श्रेय प्रशासनीक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा लाल फीताशाही को मिल रहा है। अतः योजना की सफलता तथा सुविधा का लाभ संदिग्ध हो गया है।

लोकतांत्रिक प्रणाली से चुनी गई सरकारों ने सामाजिक पेंशन के अतिरिक्त निःशुल्क उपचार, आवास के लिये वृद्धाश्रम तथा अन्य कई प्रकार की सुविधाएँ प्रदत्त करवाई हैं। स्वयं

सेवी सामाजिक तथा धार्मिक संगठन भी क्षमतानुसार महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का प्रयास कर रहे हैं। आवासीय समस्या के निराकरण हेतु पूरे देश में 529 वृद्धाश्रम कार्यरत हैं। जिसका 20 प्रतिशत भाग (102 वृद्धाश्रम) केरल जैसे छोटे राज्य में बताया जाता है। इन वृद्धाश्रमों में व्याप्त अनियमितता, अव्यवस्था तथा दूषित वातावरण की चर्चा हमेशा होती रहती है और चिन्ता का विषय भी है। लगभग यही स्थिति चिकित्सीय सुविधा तथा सामाजिक सुरक्षा पेंशन की भी बताई जाती है।

इस स्थिति के लिये व्यक्ति विशेष को दोषी नहीं करार दिया जा सकता है। दोष तो व्यवस्था या वातावरण का है जिसके निर्माण में सब लोग समान रूप से भागीदार हैं। योजनाबद्ध कार्य का अभाव तथा नियंत्रण की कमी के कारण वर्तमान स्थिति का निर्माण हुआ है।

समग्र रूप से परीक्षण के उपरान्त यह स्पष्ट है कि उपलब्ध सुविधाएँ पर्याप्त नहीं हैं- विस्तार आवश्यक है। अनेक क्षेत्र तो ऐसे हैं जिनमें कोई रियायत/सुविधा उपलब्ध ही नहीं कराई गई है। इस पर गंभीर रूप से विचार करने से स्पष्ट रूप से उजागर होता है कि आवास, आवागमन, दूरसंचार, स्वास्थ्य एवं सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा पेंशन के क्षेत्र में पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध कराना एक मानवीय कार्य है। वृद्ध व्यक्ति वर्ष का संदेश मानकर इस कार्य को तत्परता, कुशलता तथा ईमानदारी से पूरा करना चाहिये यही अभिलाषा है।

आवासीय समस्या का निराकरण वृद्धाश्रमों की स्थापना से हो सकता है। प्रथम चरण में प्रत्येक जिले में 100 व्यक्तियों की रहवासी व्यवस्था की क्षमता वाला सुविधायुक्त भवन होना चाहिये। उसी स्थान पर भोजन, उपचार, वाचनालय, मनोरंजन तथा खेलकूद की व्यवस्था से कम से कम 50% समस्याएँ तो स्वतः ही समाप्त हो जावेगी। संदर्भित वृद्धाश्रमों में 10% स्थान समृद्ध लोगों के लिये आरक्षित कर उनसे निर्धारित राशि ली जा सकती है जिसे वो सहर्ष दे सकते हैं। यह वर्ग समस्याओं के निराकरण तथा सुधार के आवश्यक अंग भी बन सकते हैं।

रेल यात्रा के लिये रियायत का प्रावधान है। सड़क परिवहन तथा नगर सेवा में भी समकक्ष छूट का प्रावधान आवश्यक है। पोस्टल तथा दूर संचार विभाग को भी रियायती दरों का प्रावधान करना चाहिये। इस व्यवस्था से पारिवारिक एवं सामाजिक सामंजस्य में वृद्धि हो सकेगी ताकि यह समूह मानसिक तनाव से मुक्त रह सकें।

सामाजिक सुरक्षा पेंशन राशि बहुत अल्प है। इस राशि में पर्याप्त वृद्धि अति आवश्यक है। जो प्रत्येक स्थिति में रु. 300/- प्रतिमाह से कम नहीं होना चाहिये। पेंशन राशि प्राप्ति की कार्यप्रणाली का सरलीकरण भी आवश्यक है ताकि हितग्राही को समय पर लाभ प्राप्त हो सके।

सामाजिक तथा धार्मिक संगठन भी सुविधानुसार इस कार्य में भागीदार बन सकते हैं। “होम विजिट टू ओल्ड परसन” योजना के अन्तर्गत इन संगठनों के प्रतिनिधि वृद्ध लोगों के निवास पर जाकर उनके सहायक के रूप में कार्य कर सकते हैं। इस व्यवस्था से वृद्धजन विश्वास के साथ सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं और वातावरण भी सुखदायी हो सकता है।

सुविधाओं में वृद्धि, सुविधाओं की प्राप्ति, वृद्धाश्रमों का सुव्यवस्थित संचालन तथा अन्य सुविधाओं के प्रति जागरूकता का कार्य सरल नहीं है तथा वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत संभव नहीं है। इन तथ्यों पर विचार आवश्यक है। इस वृहत्, समस्याग्रस्त कार्य के सम्पादन हेतु एक सलाहकार मंडल, प्रशासकीय तंत्र या अन्य सुनियोजित व्यवस्था से कार्य को सरल बनाया जा सकता है। सुधार भी हो सकते हैं। वृद्धजनों को सुख, शांति तथा सम्मान से जीवन ज्ञापन करने का अवसर मिल सकता है जो हमारी कल्याणकारी सरकार का उद्देश्य भी है। कार्यवाही अपेक्षित है।

वरिष्ठ नागरिकों के रोग एवम् उपचार व्यवस्था

वर्तमान में विश्व की जनसंख्या 5.9 अरब है जिसमें भारतवर्ष की जनसंख्या लगभग 99 करोड़ है। विश्व की जनसंख्या में 60 वर्ष से अधिक आयु के नागरिकों का प्रतिशत 9.0 है। जनसंख्या वृद्धि की वर्तमान गति से विश्वीय जनसंख्या सन् 2150 तक 11.00 अरब होने की सम्भावना है और वरिष्ठ नागरिकों का प्रतिशत भी 30% सम्भावित है। जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगाने के प्रयास तो संभव है तथा आवश्यक भी है परन्तु आधुनिक चिकित्सा उपकरण सुविधा के फलस्वरूप वरिष्ठ नागरिकों की संख्या वृद्धि अवश्यभावी है। जैसा कि सर्वविदित है इस वृद्धि का श्रेय आधुनिक उपचार प्रणाली, चिकित्सा जगत की लगनशीलता तथा कठोर परिश्रम को जाता है। परन्तु वरिष्ठ नागरिकों की बढ़ी हुई संख्या की समुचित देखभाल समाज के लिये एक चुनौती भी है। उदाहरणार्थ इतने प्रयासों के बावजूद अभी भी कई ऐसे रोग हैं जिनका सक्षम तथा कम खर्चीला उपचार उपलब्ध नहीं हो सका है।

सन् 1955 में मानवीय औसत आयु 48 वर्ष थी जो आज बढ़कर 66 वर्ष हो गई है और भविष्य में 73 वर्ष या इससे भी अधिक हो सकती है। एक और तो औसत आयु में वृद्धि से अनुभवयुक्त व्यक्तियों का अपार समूह देश में उपलब्ध है किन्तु दूसरी ओर वर्तमान में बढ़ता “न्यूक्लियर” परिवार प्रणाली से यह वर्ग उपेक्षित महसूस कर रहा है और उनकी देखभाल तथा उपचार व्यवस्था भी पर्याप्त नहीं हो पा रही है। इस परिदृश्य में बदलाव की आवश्यकता सर्वोपरि है।

प्रसन्नता की बात है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 1999 को “अन्तर्राष्ट्रीय वृद्ध व्यक्ति वर्ष” घोषित किया है। इस अद्वितीय निर्णय से इस विषय पर गहन चिंतन करने और कुछ नीतिगत निर्णय लेने का अनुपम अवसर उपलब्ध हुआ है। नतीजन वरिष्ठ नागरिकों के अनुभव, सक्षमता तथा योग्यता का लाभ समाज को मिल सकता है तथा उन्हें अन्त तक यथासंभव शारीरिक तथा मानसिक रूप से क्षमतावान भी रखा जा सकता है।

आज पूरे विश्व विशेषकर भारतवर्ष में प्रत्येक सामाजिक कार्य को अभियान का स्वरूप देने की परम्परा बन गई है। परिणाम स्वरूप इन कार्यों का असली उद्देश्य तो दरकिनारा हो जाता है और अभियान की भूमिका प्रमुख हो जाती है। इस मानसिकता का सर्वाधिक प्रतिकूल प्रभाव चिकित्सीय कार्यों में होता है। समाजसेवी तथा स्वयंसेवी संगठनों को इस मानवीय पहलु को आडम्बरो से दूर रखने के संदेश के साथ इस समस्या के निराकरण में सहयोगी की भूमिका निभाने का अप्रत्याशित अवसर प्राप्त हुआ है।

पूर्व में कहा जाता था कि वृद्धावस्था बीमारी की अवस्था है। एक सीमा तक तो यह बात असत्य प्रमाणित कर दी गई है। किन्तु वर्तमान में भी कुछ रोग हैं जो आयु के द्योतक हैं। अतः आयु आधारित बीमारियों के उपचार की सक्षम व्यवस्था की आवश्यकता सर्वाधिक है।

आयु आधारित समस्त रोगों की विवेचना न तो आवश्यक है न ही सम्भव है। अधिक मात्रा में पाये जाने वाले कतिपय रोगों को संदर्भित करने से उपचार व्यवस्था में सुधार को उपयुक्त दिशा मिल सकती है।

आयु आधारित नेत्र रोगों में मोतियाबिंद, कांचबिंद, सीनाईल मेक्युलर डीजनरेशन तथा डायबिटीक रेटिनोपेथी का उल्लेख आवश्यक है। मोतियाबिंद के नाम से भारतवर्ष का प्रत्येक नागरिक परिचित है। यह बीमारी 50 वर्ष की आयु के पश्चात होती है और नेत्र ज्योति को शनैः शनैः कम करती है। मोतियाबिंद वरिष्ठ नागरिकों में दृष्टिहीनता का प्रमुख कारण भी है। इस बीमारी के उपचार हेतु निरंतर अनुसंधान के फलस्वरूप इसमें क्रांति आई है और चिकित्सा प्रणाली वर्तमान विश्वसनीय मुकाम पर आ पहुंची है। फिर भी आये दिन शल्य चिकित्सा में दुर्घटनाएँ, विशेषकर नेत्र शिविरों में घटित हो जाती हैं। जिसका प्रमुख कारण नेत्र शिविर के आयोजकों तथा चिकित्सकों द्वारा प्रदर्शित अतिउत्साह महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

इस बीमारी के उपचार की तकनीक को सरल मानने से तथा इसमें चिकित्सकों की असामान्य रूचि से अन्य महत्वपूर्ण बीमारियों की उपचार व्यवस्था पूरी तरह उपेक्षित है। कांच बिंद एक ऐसा रोग है जिसमें आंख का दबाव सामान्य से अधिक हो जाता है। यह रोग भी लगभग वरिष्ठ नागरिकों में ही होता है। समुचित निदान तथा उपचार व्यवस्था के अभाव में स्थाई दृष्टिहीनता का कारण भी है। इस रोग के निदान तथा उपचार के सुविधा सम्पन्न केन्द्र भी लगभग नहीं के बराबर हैं।

सीनाईल मेक्युलर डीजनरेशन भी वृद्धावस्था का ही रोग है। इस बीमारी में “रेटीना” के मध्यभाग “मेक्युला” पर आयु के परिणाम स्वरूप विकृति हो जाती है। वर्तमान व्यवस्था में न तो इसके निदान की व्यवस्था है न ही उपचार सम्भव है। औसत आयु से अधिक आयु के व्यक्तियों की अधिक संख्या के कारण इस बीमारी के प्रतिशत में भी वृद्धि हुई है। इससे निजात पाने के लिये तो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में एक फाउंडेशन भी स्थापित हुआ है जिसका कार्यक्षेत्र केवल इस बीमारी के कारण का पता लगाकर प्रभावित व्यक्ति एवं उनके परिवारजनों को आवश्यक जानकारी तथा सहायता उपलब्ध कराना निर्धारित किया गया है।

मधुमेह भी नेत्र को प्रभावित कर दृष्टिहीनता उत्पन्न करती है। मधुमेह का सर्वाधिक

प्रभाव 'रेटीना' पर डायबिटीक रेटिनोपेथी के रूप में होता है। मधुमेह की बढ़ती आबादी तथा औसत आयु में वृद्धि से भी डायबिटीक रेटिनोपेथी के प्रकरण अधिक हो रहे हैं। इस विकृति के निदान तथा उपचार की व्यवस्था के केन्द्रों की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है और उपचार खर्चीला भी है जो वृद्धजनों की पहुंच के बाहर ही है।

शरीर के अन्य अवयवों में आयु का प्रभाव हड्डी तथा जोड़ों पर भी होता ही है। 60 वर्ष की आयु के बाद के व्यक्तियों में "आर्थाइटीस" किसी न किसी रूप में होता ही है और विकलांगता का प्रतीक बन जाता है। इसके अतिरिक्त "आस्टीओपरोसीस" नामक बीमारी भी 65 वर्ष से अधिक आयु की महिलाओं में बहुतायत से देखी जाती है जो कि शरीर में "केल्शियम" की मात्रा कम होने से होती है। उच्च रक्तचाप इसकी बढ़ोत्तरी में सहायता करता है। इस बीमारी से कुल्हें की हड्डी टूटने की संभावना बढ़ती है।

हड्डी तथा जोड़ों के रोगों के लिये योग तथा व्यायाम की महत्वपूर्ण भूमिका है। किन्तु यह क्षेत्र भी व्यावसायिकता से त्रस्त है। योग केन्द्रों की बाढ़ सी आ गई है। जिससे योग तथा व्यायाम (फिजियो थेरेपी) में विश्वास ही टूट गया है। जोड़ों के बदलने का कार्य भी चिकित्सक सफलतापूर्वक कर देते हैं किन्तु सामान्य तथा आर्थिक रूप से कमजोर वरिष्ठ नागरिक न तो ऐसे केन्द्र पर पहुंच सकते हैं न ही आर्थिक रूप से सक्षम होते हैं। अतः इस लाभ से वंचित ही रहते हैं।

कैंसर रोग की भयानकता सर्वविदित है। महिला वर्ग में स्तन, ओव्हरी तथा बच्चादानी के कैंसर के रोगियों की संख्या कम नहीं है। उसी प्रकार पुरुषों में प्रोस्टेट ग्लैंड का आकार सामान्य से बड़ा होना एक आम बात है। प्रदत्त कठिनाईयों का वर्णन भूक्तभोगी सक्षमता से कर सकता है।

शरीर के अन्य भाग है जैसे हृदय, मस्तिष्क, खून की नसें भी आयु के प्रभाव से मुक्त नहीं है। आये दिन हृदयाघात, ब्रेन हेमरेज पक्षाघात आदि के प्रकरण दिखाई देते हैं।

स्नायुतंत्र की अन्य बीमारियों जैसे पार्किंसोनीसम, अलझाइमर्स (जिसमें प्रभावित व्यक्ति एक प्रकार से भुलकड़ हो जाता है) तथा अन्य रोगों का प्रतिशत भी कम नहीं होता है। मधुमेह, उच्च रक्तचाप तो वरिष्ठ नागरिकों के लिये लगभग एक साथी ही हो जाते हैं और वृद्धजनों को अक्षम बनाने का कार्य सतत करते हैं।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि आयु जनित रोग होंगे ही और शरीर को अक्षमता प्रदान करेंगे जो कि विकलांगता का एक कृत्रिम रूप होता है। यह एक ऐसा उदाहरण है जिसकी

ओर किसी भी वर्ग का ध्यान आकर्षित नहीं हो पाया है। संबंधित साहित्य में भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने संभवतया इस दृष्टिकोण को मददेनजर रखते हुए सन् 1999 को वृद्ध व्यक्ति वर्ष घोषित किया है। इस दृष्टि से हमारे सामने तीन प्रश्न उभरते हैं।

1. क्या आयु के शारीरिक प्रभाव को रोका जा सकता है ?
2. क्या आयु आधारित विकलांगता का निराकरण हो सकता है?
3. क्या आयु आधारित रोगों के उपचार की व्यवस्था पर्याप्त है?

वर्तमान चिकित्सीय ज्ञान के आधार पर यह स्पष्ट है कि बढ़ती आयु के प्रभावों को न तो रोका जा सकता है न ही कम किया जा सकता है। हालांकि आधुनिक चिकित्सा प्रणालियों ने कुछ असाध्य रोगों पर विजय का मार्ग प्रशस्त किया है। फलस्वरूप परोक्ष रूप से आयु आधारित विकलांगता का प्रकोप कम होना माना जा सकता है। किन्तु इस तर्क से मूल बात यथावत रहती है - “उपचार की व्यवस्था कितनी पर्याप्त है।”

वृद्ध नागरिकों के उपचार की व्यवस्था का न तो प्रावधान है न ही कोई विशेष व्यवस्था की गई है। शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक रूप से कमजोर वरिष्ठ नागरिक सामान्य नागरिक की तरह चिकित्सा का लाभ उठाने के लिये बाध्य है जिसमें कठिनाइयाँ अधिक और सुविधा नगण्य होती है। आज के दयनीय शासकीय चिकित्सालयों में इस वर्ग की सुनवाई की सुविधाएं भी लगभग नहीं हैं और वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत इधर-उधर दौड़ भाग करना पड़ती है जिसमें वो सक्षम नहीं होते हैं।

इस कठिनाई से मुक्ति दिलाने के लिये द्विस्तरीय प्रयासों की आवश्यकता है।

प्रत्येक चिकित्सा महाविद्यालय से सम्बद्ध तथा जिला चिकित्सालयों में एक ‘जीरीयाटीक’ विभाग स्थापित किया जावे। इस प्रकार की व्यवस्था कुछ पाश्चात्य देशों में कार्यरत है। यह एक ऐसा केन्द्र हो जहां पर वृद्ध नागरिकों के समस्त रोगों के निदान तथा उपचार की व्यवस्था होना आवश्यक है। मेरे मत में इस विभाग का दायित्व एक जीरीयाटीक फीजिशियन को दिया जावे। इस बिन्दु पर संबंधित व्यक्तियों से परामर्श कर उचित प्रशासकीय निर्णय लिया जा सकता है। इसी केन्द्र पर निःशुल्क दवाईयों का भी प्रबन्ध किया जावे। यह व्यवस्था शासकीय विभाग में एकल खिड़की (सिंगल विन्डो) प्रणाली के समकक्ष है।

इस कार्य तथा व्यवस्था को संचालित करने का कार्य शासन के दो विभाग अर्थात् समाज कल्याण तथा स्वास्थ्य विभाग के संयुक्त रूप से करने से यह कार्य सरलता से हो सकता

है तथा संयुक्त जिम्मेदारी उठाने का यह एक अनुकरणीय उदाहरण भी माना जा सकता है। समाजसेवी संगठन चाहें तो इस पुनित कार्य में एक दबाव समूह 'प्रेसर ग्रुप' के रूप में कार्य कर पुण्य कमा सकते हैं।

मेरा विश्वास है कि उपरोक्त सुझावों को क्रियाशील करने से संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय की सफलता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम हो सकता है और वृद्धजनों की शारीरिक व्याधियों को दूर करने में सहायक साबित हो सकता है। मध्यप्रदेश के लिये देश में एक उदाहरण प्रस्तुत करने का एक अनुपम अवसर है।

Selected Bibliography

- Ahuja, Swarna *Drashtihinon Ka Shikshan Tatha Punarwasan va Vikas.* Mumbai : H.K. Printers 1995
- Berger, Ian *The Focometer : A New Refractive Device for Developing Countries, in Community Eye Health* Vol. 8:15, PP. 12-13, 1995
- Bhalerao, C.N. *Public Service Commission of India : A study.* Delhi : Sterling Publications 1966
- Dewan, A.P. *Healthy Aging* New Delhi : A.C. Publishers Pvt. Ltd. 1994
- Hazareka, Niru *Public Service Commission : A Study.* Delhi : Leelawati Publications 1979
- Jain, Mridula *Kaise Jiyein Pachas Ke Baad.* New Delhi : Care and Cure International UD. 2000
- Mehta Haroobhai & Hasmukh Patel *Dynamics of Reservation Policy.* New Delhi : Patriot Publishers 1985
- Prasad Anirudha *Arakshan : Samajik Nyay evam Rajnitik Santulan.* New Delhi : Rawat Publications 1991.
- Noorani, A.G. *Constitutional Questions in India.* New Delhi : OUP
- Singh, Batuk *The Union Public Service Commission.* Delhi : Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting Govt. of India, 1974
- Punani, B. & Nandini Rawal *Guideline for Social and Economical Rehabilitation of Rural Blind.* Bombay : N.A.B. 1987
- Sarkaria, R.S. *Commission on Central State Relations, Report Part I & II* Nasik : General Manager Govt. of India Press 1987, 1988
- Tyagi, V.S. *Judicial Activism in India.* New Delhi : Shrishti Publishers and Distributors 2000

Maharashtra Public Service Commission - Historical Record 1937-1962. Bombay : 1966

The Gazette of India - Extra-ordinary Part II- Section-I. New Delhi : 1996

Medical Council of India, Regulations.
New Delhi, 2000

Problems of Partially Seeing - New York
National Association for Visually Handicapped 1995.

Project Report Part I & II. Lucknow Sanjay Gandhi
Postgraduate Institute of Medical Sciences 1995.

Report on Man Power Developement. New Delhi :
Rehabilitation Council of India, Ministry of
Welfare 1996.

Programmes and Concessions for the Disabled Delhi:
National Institute for Visually Handicapped 1990.

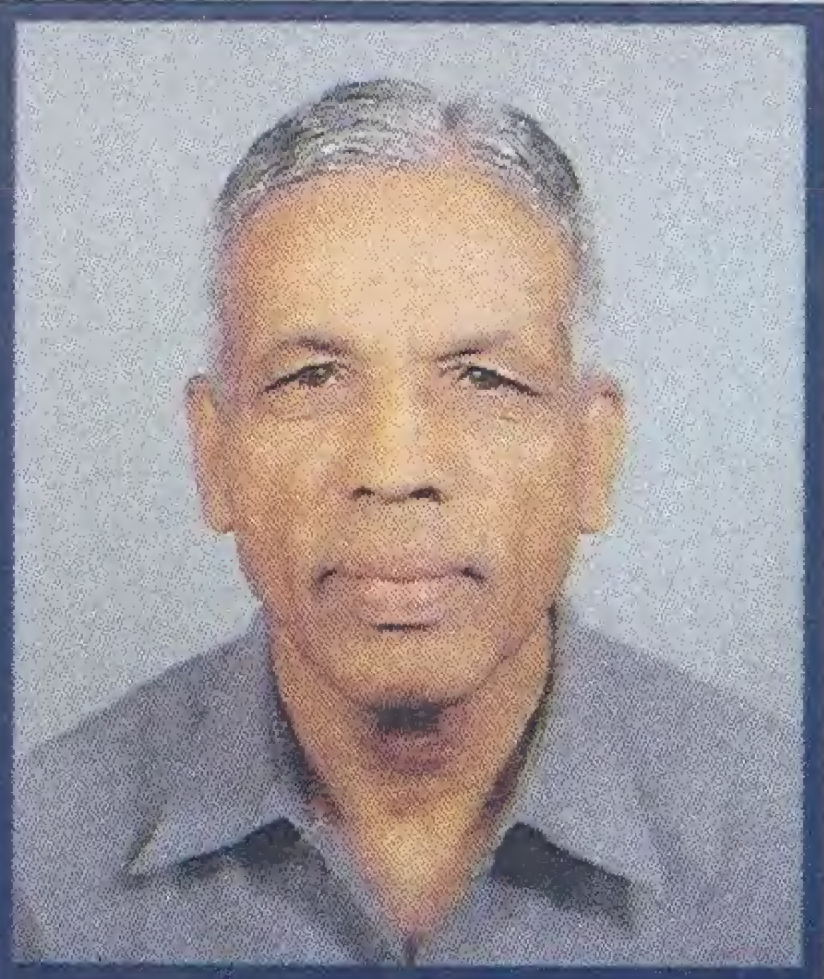
Programmes and Concessions to the Disabled persons.
New Delhi : National Information Centre on Disability
and Rehabilitation (NICDR) Ministry of Welfare 1995.

Community Eye Health - London Vol. 13: 33, 2000

Constitution of India. Jodhpur : Kanoon Prakashan,

*Guideline for Funding Projects and Application Format
for Financial Assistance.* New Delhi : National Handi-
capped Finance and Development Corporation. 1998

Better Life. Delhi : Monthly Journal of Servants of the
Peoples Society 2000



डॉ. एम. सी. नाहटा

लेखक परिचय

महात्मा गाँधी स्मृति चिकित्सा महाविद्यालय, इन्दौर के नेत्र विभाग के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष डॉ. माणकचंद नाहटा का जन्म मंदसौर जिले के रामपुरा गाँव में दिनांक २४ जुलाई १९३१ को हुआ। उन्होंने विकलांगों विशेषकर दृष्टिहीनों के पुनर्वसन के लिए महती कार्य किए हैं। उनके कल्याण पर आधारित कार्यक्रमों की नींव डाली तथा वे आज केवल देश ही नहीं अपितु विदेश में भी अपने उच्च स्तरीय प्रशासकीय क्षमता एवं समाज सेवा के क्षेत्र में किये गये कार्यों के कारण प्रतिष्ठित हुए हैं।

डॉ. नाहटा इंदौर के अतिरिक्त गजरा राजा चिकित्सा महाविद्यालय ग्वालियर में अधिष्ठाता के पद पर रहे तथा उन्होंने अपनी पहचान एक लोकप्रिय नेत्र चिकित्सक, शिक्षक एवं श्रेष्ठ प्रशासक के रूप में विकसित की। उनकी यह पहचान प्रदेश ही नहीं वरन् देश की सीमाओं को लांघकर विदेशों में भी गई। जिसके चलते सन् १९७० में लंदन में मूरफील्ड्स अस्पताल में रेटिना पर विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त किया तथा वर्ष १९९९ में न्यूयार्क में आयोजित विज्ञान २००० में भागीदारी करने तक वे अनेकों बार विदेश यात्रा कर चुके जिनमें प्रमुख रूप से द्यूनिशिया, मलेशिया में शोध पत्र प्रस्तुत किया तथा संगोष्ठी में अध्यक्षता की, जापान के किरयू शहर में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में उनकी सेवाओं तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याख्यानो, पोलेण्ड के लुबलिन विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में उनकी सेवाओं को सदैव याद किया जाता रहेगा। लंदन से बी.बी.सी. द्वारा डॉ. नाहटा के साक्षात्कार का प्रमुखता से प्रसारण किया जाना देश के लिये गौरव की बात रही है।

वे अमेरिका के दो स्वयंसेवी संगठनों के सलाहकार मंडल के सदस्य के रूप में मनोनित किये गये हैं तथा प्राग एवं बर्लिन विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित गेस्ट लेक्चर के लिये भी आमंत्रित किये गये थे। डॉ. नाहटा के विशाल प्रशासकीय अनुभवों का लाभ म.प्र. लोक सेवा आयोग ने भी लिया तथा वे उसके सदस्य मनोनित किये गये थे।

डॉ. नाहटा देश के एकमात्र नेत्र चिकित्सक हैं जिन्होंने ७०० से अधिक निःशुल्क नेत्र शिविरों के जरिये २ लाख के लगभग पीड़ितों की निःशुल्क शल्य चिकित्सा की।

वर्तमान में डॉ. नाहटा नेशनल एसोसिएशन फॉर द ब्लाइंड म.प्र. के एवं राष्ट्रीय नेत्र सुरक्षा संस्था इंदौर का नेतृत्व कर रहे हैं। उनकी विकलांगों के प्रति समर्पित सेवाओं को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार के सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता विभाग ने उन्हें वर्ष १९९८ में राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया।

वे एक कुशल लेखक भी हैं। उनके अनुभवों, विश्लेषणात्मक लेखों एवं पैनी दृष्टि, लेखनी की साफ़ सुथरी एवं अनूठी शैली, उनके गहरे चिन्तक होने का प्रमाण देती है, वहीं राजनैतिक इच्छा शक्ति को जागृत करती है एवं आम लोगों को बदलाव की ओर जाने के लिये आकर्षित एवं प्रेरित करती है।

डॉ. नाहटा को सेवा के ये संस्कार उनके पूज्य पिता श्री राजमलजी नाहटा जो तत्कालीन होलकर राज्य में प्रसिद्ध स्वतंत्रता संग्राम सेनानी एवं समाज सेवी थे तथा डॉ. नाहटा के अग्रज प्रतिष्ठित विधिवेक्ता एवं सांसद श्री भंवरलालजी नाहटा से विरासत में मिली। आज वे उन्हीं की कृपा एवं आशीर्वाद से चिकित्सा, शिक्षा एवं समाज सेवा के क्षेत्र में इस शिखर पर पहुँचे हैं।

डॉ. एम. सी. नाहटा



परिवर्तन की राहें

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

दो शब्द

भूमिका

खण्ड एक - संवैधानिक दायरे

1.	लोकसेवा आयोग - एक समीक्षा ।	1
2.	कुलपति पद का अवमूल्यन ।	2
3.	केन्द्र सरकार एवं राज्यपाल के संवैधानिक दायरे ।	7
4.	महिला आरक्षण, अनछूएँ पहलू ।	12

खण्ड दो - चिकित्सा

1.	चिकित्सा शिक्षा - विस्तार की आवश्यकता ।	17
2.	मध्यप्रदेश में स्नातकोत्तर चिकित्सा विज्ञान संस्थान स्थापित हो ।	21
3.	नर्सिंग होम एक अव्यवस्थित व्यवस्था ।	22
4.	चिकित्सा जगत, घटना प्रभाव-बढ़ते दबाव ।	30
5.	नेत्र चिकित्सा एवं लेसर प्रणाली ।	36
6.	नजर अन्दाज न करें आंखों की लाली को ।	41
7.	आंखों की संजीवनी है - विटामिन ।	48
8.	एड्स से भी होती है दृष्टिहीनता ।	53
9.	तम्बाकू भी दृष्टिहीनता का कारण हो सकता है ।	57
10.	नजर के चश्मे - सामान्य जानकारी ।	61
11.	चश्मे के नम्बर - आधुनिक उपकरण - फोकोमीटर ।	64
12.	उद्देश्यहीन बन गये नेत्र शिविर ।	67
13.	लाभदायक होगी - पुनर्संरचना अन्धत्व निवारण कार्यक्रम की ।	70

खण्ड तीन - विकलांगता

1.	धूल खाता विकलांग अधिनियम ।	84
2.	दृष्टिहीनों को उपलब्ध सुविधाएं - पुनर्विचार आवश्यक ।	85
3.	विकलांग महिलाओं की सुध लीजिये ।	90
4.	दृष्टिहीनों की शिक्षा एक अहम मुद्दा ।	97
5.	दृष्टिबाधित विकलांगता के कारण, पहचान एवं रोकथाम	101
6.	अल्प दृष्टि उपचार केन्द्रों की आवश्यकता ।	106
7.	विकलांगों की उच्च शिक्षा में प्रौद्योगिकी का महत्व ।	109
8.	विकलांग वर्ग पुनर्वसन-जनशक्ति वृद्धि- कुछ उपाय ।	114
9.	विकलांग वित्त विकास निगम, पवित्र उद्देश्य, प्राप्ति कठिन ।	118
10.	दिशाहीन स्वयंसेवी संगठन ।	122

खण्ड चार - वृद्धावस्था

1.	वृद्धजन को समर्पित वर्ष 1999 की सार्थकता ।	127
2.	वृद्धों की अवहेलना नहीं सम्मान कीजिए	131
3.	वृद्धावस्था अभिशाप या वरदान ।	132
4.	अपर्याप्त है वृद्धजनों को उपलब्ध सुविधाएं ।	135
5.	वरिष्ठ नागरिकों के रोग एवं उपचार व्यवस्था ।	138



सत्यमेव जयते

डॉ. मुरली मनोहर जोशी
Dr. Murli Manohar Joshi

मानव संसाधन विकास मंत्री
भारत
नई दिल्ली-110001

MINISTER OF
HUMAN RESOURCE
DEVELOPMENT
INDIA

NEW DELHI - 110001

दिनांक 28/10/2000

दो शब्द

‘परिवर्तन की राहें’ पुस्तक निसन्देह आज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में एक गम्भीर समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रही है जो प्रशंसनीय प्रयास है। पुस्तक के विभिन्न भागों में अनेक आलेखों एवं टिप्पणियों के माध्यम से लेखक ने अनेक प्रश्न पाठकों के समक्ष रखे हैं। यूँ तो परिवर्तन का चक्र निरन्तर गतिशील रहता है परन्तु हर दिशा में हो रहे परिवर्तन सदैव उचित हो, जरूरी नहीं। परिवर्तन का आंकलन सदैव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया जाता है। सामाजिक हित से प्रेरित स्वच्छ परिवर्तन स्वागत योग्य हैं। लेखक के प्रस्तुत संकलन में 32 विशिष्ट आलेखों का समावेश किया गया है। इन आलेखों में समालोचना का स्वर मुखरित है। लेखक ने अनेक कारणों से तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है जिसमें सामाजिक परिपेक्ष्य में विद्यमान स्वार्थ, ढोंग, दिखावा और अनेक कुरीतियों पर प्रहार करते हुए बदलाव की तड़प को व्यक्त किया है।

लेखक का यह साहसी कदम है कि आलोचना व्यक्त करते हुए समाज के हित में मूल्यांकित अनेक प्रश्न और सुझाव पाठकों के समक्ष रखे गये हैं। लोक सेवा आयोग की कार्यप्रणाली में वांछनीय परिवर्तन हेतु पाठकों के समक्ष अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। एक अन्य आलेख में कुलपति के उच्च पद के अवमूल्यन एवं अरुचिपूर्ण कार्यशैली एवं लाभ की लालसा चिन्तनीय प्रश्न है। इसी प्रकार अन्य संवैधानिक पदों पर आसीन अधिकारियों के सन्दर्भ में राज्य और केन्द्र सरकार के मध्य टकराव के निराकरण हेतु सुझाव स्वागत योग्य हैं।

विगत 40 वर्षों से चिकित्सा-शिक्षा क्षेत्र में सक्रिय लेखक ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर मध्यप्रदेश व अन्य राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन और वांछित विकास का वर्णन सराहनीय ढंग से किया है। चिकित्सा व्यवस्था में कुकुरमुत्तों की तरह बढ़ते नर्सिंग होम्स एवं उनकी घटती गुणवत्ता की ओर समाज और सरकार का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास अच्छा है। इसी प्रकार

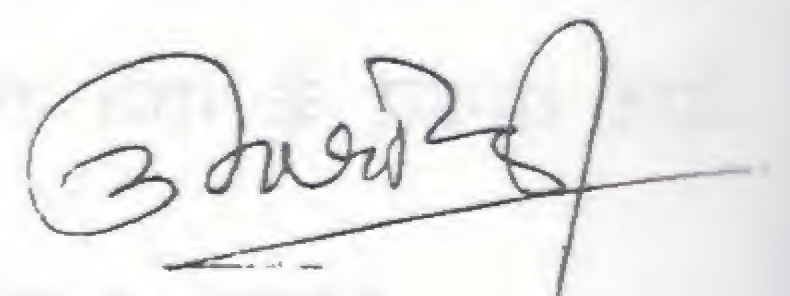
रोगियों के शोषण की मुख्य चिन्ता और अंधत्व निवारण, नेत्र चिकित्सा में लेजर प्रणाली व अन्य कुरीतियों एवं उनके कुप्रभावों पर सरल दृष्टिकोण रखा गया है। लेख में समाज में व्याप्त कुरीतियों जैसे तम्बाकू सेवन, एड्स के दुष्परिणाम आदि से आम जनता को लाभदायक जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

यह एक सुखद अनुभव है कि उच्च शोधपरक अनुभवों एवं विदेशी प्रणालियों के ज्ञान अर्जित करने के बावजूद लेखक ने साधारण भाषा में पाठकों के समक्ष महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं।

विकलांगता से जुड़े प्रश्नों पर सहानुभूतिपूर्वक विचारमंचन किया गया है। अनेक समस्याओं के कारणों एवं सुधार सम्बन्धी सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। दृष्टिबाधित विकलांगता के कारणों, उसकी पहचान, रोकथाम, उपचार हेतु समुचित प्रौद्योगिकी उपलब्ध कराये जाने व केन्द्रों की स्थापना के बारे में नेत्र विशेषज्ञ की दृष्टि से लेखों में विचार दर्शन प्रस्तुत किया गया है। समाज सेवक की दृष्टि से उसके व्यवहारिक उपाय सुझाये हैं। अपने दिशाहीन स्वयं संगठन शीर्षक में लेखक ने अपनी आलोचना को मुखरित किया है तथा इस क्षेत्र में कार्यशील संगठनों की पोल, उनके द्वारा वित्तीय अनियमितताओं व स्वप्रचार पर तीखी आलोचना की है। सम्बन्धित लेखों में अच्छी बात कहीं गयी है कि वृद्धों की अवहेलना नहीं-सम्मान करना चाहिए। उनके रोग-उपचार, अनुभवों से लाभ तथा भावनात्मक, सामाजिक व आर्थिक समस्याओं के प्रति समाज का ध्यान आकर्षित करते हुए संयुक्त परिवार प्रणाली के लाभ आज के परिपेक्ष्य में सुन्दर भाव प्रस्तुत किये गये हैं।

उक्त पृष्ठभूमि में 'परिवर्तन की राहें' पाठकों को रूचिपूर्ण लगेगी और समाज में व्याप्त कुरीतियों के प्रति जागरूकता प्रदान कर सकेगी। मुझे आशा है कि यह प्रयास जन-जागृति में एक मील का पत्थर साबित होगा।

6, रायसीना रोड, नई दिल्ली


(मुरली मनोहर जोशी)

डॉ. सत्यनारायण जटिया
DR. SATYANARAYAN JATIYA



सत्यमेव जयते

श्रम मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली-110001

MINISTER OF LABOUR
GOVT. OF INDIA
NEW DELHI-110001

दिनांक 16/01/2001

संदेश

लोकप्रिय नेत्र चिकित्सक डॉ. माणकचंद नाहटा के द्वारा लम्बे चिकित्सीय, शिक्षकीय और प्रशासकीय अनुभवों पर लिखी गई पुस्तक “परिवर्तन की राहें” आम लोगों को बदलाव की ओर जाने के लिए मार्गदर्शन करती है। पुस्तक में समाविष्ट सभी 32 आलेखों में वर्तमान परिस्थितियों पर तथ्यपरक दृष्टिकोण से समालोचना की गई है। डॉ. नाहटा ने अपने अनुभव के आधार पर लोक सेवा आयोग की भूमिका, कुलपति पद के अवमूल्यन, केन्द्र सरकार व राज्यपाल के संवैधानिक दायरे, चिकित्सा व्यवस्था की खामियां, विकलांगता से जुड़े सवाल, राजनीति के अपराधीकरण, महिला आरक्षण तथा वृद्धजनों के कल्याण आदि आलेखों में बदलाव के लिए परिवर्तन की नई राह भी सुझाई है।

आशा की जानी चाहिए कि डॉ. नाहटा की यह पुस्तक चिकित्सा, शिक्षा एवं समाज कल्याण से जुड़े क्षेत्रों में समसामयिक बदलाव के लिए पथ प्रदर्शक की भूमिका निभाएगी।

प्रकाशन की सफलता की समस्त शुभकामनाओं सहित।

बधाई

(डॉ. सत्यनारायण जटिया)



सर्वे भवन्तु सुखिन्ः, सर्वे सन्तु निरामयाः

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाक् भवेत् !

May all beings be happy, May all be healthy,

May people have the well-being of all in mind,

May nobody suffer in any way. - Vedic prayer

ॐ नमः शिवाय

(विष्णुसहस्रनाम ३६)

भूमिका

कई वर्षों से, भारत के वर्तमान परिदृश्य को देख कर, मेरे मन में विचारों का मंथन हो रहा था। इसके कारण स्पष्ट हैं। मैं चाहता था कि इस परिदृश्य में परिवर्तन आवे। उक्त विचार को आगे बढ़ाने में मेरे बुद्धिजीवी मित्रों एवं परिवारजनों ने मुझे प्रेरित किया। इसलिए मैंने संविधान, चिकित्सा, विकलांगता तथा वृद्धावस्था जैसे प्रासंगिक विषयों पर गहन चिंतन कर अपने विचार समाज के सामने इस पुस्तक के माध्यम से प्रस्तुत किए हैं। मैंने बुद्धिजीवी वर्ग से अपेक्षा की है कि महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चा करें, ताकि एक नया सोच उभरे एवं विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त विषमताओं को समाप्ति की ओर ले जा सकें।

मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी पुस्तक 'परिवर्तन की राहे' समाज में परिवर्तन लाने की दिशा में एक सार्थक, रचनात्मक एवं यथार्थ की ओर ले जाने में सहायक होगी।

इस पुस्तक को वर्तमान स्वरूप में प्रस्तुत करने में सहयोग, मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन हेतु मैं मेरी पत्नी प्रोफेसर डॉ. प्रेमकुमारी नाहटा एवं मेरे घनिष्ठ मित्रों का ऋणी हूँ।

1 जनवरी, 2001

इन्दौर

डॉ. एम.सी. नाहटा